❖ श्री राम उवाच क्रमांक – 4
दो कदम सूर्योदय की ओर

❖ आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❖ प्रवेश :
3 अगस्त 2003, 2100 प्रतियाँ

❖ मूल्य : 50/–

❖ अर्थसहयोगी :
आर. रतनलाल रांका, चेन्नई (सारोठ)

❖ प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❖ मुद्रक :
भद्रेश कुमार जैन
जैन प्रकाशन केन्द्र
53, आदियप्पा नायकन स्ट्रीट,
साहुकारपेट, चेन्नई–79.
दूरभाष : (044) 25299739

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् नक्षत्र एवं परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के पट्टधर हैं। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने कर कमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की 'पछेवड़ी' प्रदान की थी। आपका प्रथम स्वतंत्र चातुर्मास निम्बाहेड़ा की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति उसी चातुर्मास के एवं बाद के कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संरक्षण महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयशप्रज्ञाजी म.सा. ने किया। सम्पादन हेतु मेरे मित्र श्री इन्द्रचन्द बैद ने ख्यातनामा शब्द–शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया। सम्पादित प्रवचनों का समीक्षण कविरत्न श्री गौतममुनिजी म.सा. द्वारा सम्पन्न हुआ।

'श्री राम उवाच'–प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता श्री रतनलालजी रांका, चेन्नई का अर्थ–सौजन्य हेतु आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के भरपूर सहयोग से यह भगीरथ कार्य सम्पन्न हो सका है। श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के प्रशस्त सहयोग हेतु मैं अपनी अनेकशः शुभकामनाएँ एवं शुभ भावनाएँ संप्रेषित किये बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्य प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवश यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

हमें विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्य प्रवर की अमृतवाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

शान्तिलाल सांड
संयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा.सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर

अर्थ सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी रांका, चेन्नई (सारोट)

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर्य उदारमना श्रीमान् रोड़मलजी साहब रांका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्व. श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। आप धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री है। श्री रांकाजी ने अनेक व्रत–प्रत्याख्यान ग्रहण किये थे। नियमपूर्वक 6–6 सामायिक तथा स्वाध्याय आपके प्रतिदिन की दिनचर्या के अभिन्न अंग थे। आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचंदजी रांका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चेन्नई को बनाया। व्यवसाय में अभिवृद्धि के साथ–साथ धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी आपने अपार यश प्राप्त किया। समता भवन तंडियार पेठ निर्माण में आपका मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पद चिन्हों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी, श्री पारसमलजी एवं पुत्री श्रीमती नवरतनबाई रुणीवाल धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी हैं एवं सपरिवार चेन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवें पुत्र श्री रतनलालजी रांका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सहृदयी, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न है। आप न केवल व्यवसाय के क्षेत्र में कुशल है अपितु धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी आपका कार्य क्षेत्र अति विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रुप में अविस्मरणीय एवं प्रशंसनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ, चेन्नई के मानद्मंत्री हैं। आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के राष्ट्रीय मंत्री एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ, चेन्नई के उपाध्यक्ष भी हैं। आप स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं में सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं। उन संस्थाओं में आपका महत्वपूर्ण आर्थिक सहयोग रहता है।

आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में ही नहीं अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरुपेण सक्रिय हैं। आर. आर. प्लास्टिक तथा आर. आर. इलेक् ट्रेडर्स जैसे प्रतिष्ठानों के मालिक होते हुए भी 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती संतोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति से युक्त हैं। आप संत–सती सेवा में अग्रणी तथा आतिथ्य सत्कार में अभिरुचि रखने वाली एवं अपने पति को धार्मिक सद् कार्यों में सदैव सहयोग प्रदान करती रहती हैं। सचमुच में यह कहावत– यहाँ शत–प्रतिशत चरितार्थ होती है कि हर सफल व्यक्ति के पीछे एक महिला का हाथ होता है। आपके दो पुत्र मुकेशकुमार और राकेशकुमार हैं, जो अपने पिता श्री के पद चिन्हों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा भी धार्मिक प्रवृत्ति से ओतप्रोत हैं। आपके एक पौत्र श्री ऋषभकुमार हैं।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। आदर्श त्यागी पंडित रत्न श्री धर्मेशमुनिजी म. सा. व महासती श्री जयश्रीजी म. सा. के आप संसार पक्षीय साला एवं भाई हैं।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने स्वर्गीय आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म.सा. एवं वर्तमान आचार्य श्री रामलालजी म. सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की साहित्य समिति को सहायतार्थ सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी है। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के तीन संग्रह निकल चुके हैं और चौथा संग्रह आपके समक्ष है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इस का लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ–

केसरीचन्द सेठिया
अध्यक्ष : श्री साधुमार्गी जैन संघ, चेन्नई

अनुक्रमणिका

१. निज स्वरूप की साधना : अध्यात्म में प्रवेश का मार्ग

श्रेयांसनाथ भगवान् ने, आध्यात्मिकता को उसकी सम्पूर्णता में प्राप्त कर लिया था। ऐसी पूर्णता की प्राप्ति के बाद तीर्थंकर देव भव्य आत्माओं के कल्याण के लिए, जो देशना देते हैं, उसके आधार पर भव्य आत्माएँ, अध्यात्म की दिशा में गतिशील होती हैं। यदि गहराई से विचार करें तो आध्यात्मिकता की ऐसी अवस्था कहीं बाहर से नहीं, हमारे भीतर से ही उपलब्ध होती है। उसे उपलब्धि भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो स्वतः उपलब्ध होती है, उसे नये सिरे से प्राप्त नहीं करना पड़ता। वह तो विद्यमान है, भले ही दृष्टि से ओझल हो। उसे दृष्टि में लाना होता है। यही उसे उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है। इस संदर्भ में यह याद रखना भी आवश्यक है कि प्राप्त वही होता है, जो हमारा है, नया कुछ प्राप्त नहीं होता। इसे यों समझें कि हमारा जो स्वरूप है, उस पर आवरण आ गया है अथवा जो हमारा है, वह पर्दे की ओट में आ गया है। पर्दा हटा नहीं कि वह हमारे सामने आ जायेगा। आवश्यकता है, उस पर्दे को हटाने की। सामान्यतः व्यक्ति को यह बोध ही नहीं होता कि जिसे वह खोज रहा है, वह तो स्वयं के पास ही विद्यमान होता है। यह वैसी ही स्थिति होती है जैसी कस्तूरी मृग की होती है, जो उस कस्तूरी को जो उस की स्वयं की नाभि में होती है, जंगल के कोने–कोने में ढूँढ़ता फिरता है। ऐसे ही अज्ञान को लक्ष्य कर संत कवि कबीरदास ने कहा था–

तेरा साँई तुज्झ में, ज्यों पुहपुन में बास ।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर–फिर ढूँढ़े घास ।।

पर बात उस गंध को, निज–स्वरूप को पहचानने की है।

एक उदाहरण लें। एक भिखारी भीख मांग रहा है। उसकी जेब में एक चाबी पडी है। खजाना भी मौजूद है पर वह चाबी अपनी जेब में रखकर भूल गया है। कई लोग भुलक्कड होते हैं, भूल जाते हैं। चाबी उसकी जेब में है, खजाना भी सुरक्षित है पर चाबी टटोलने की उसे फुर्सत नहीं है। सुबह से शाम तक वह मांगता है और मॉगते-मॉगते जो कुछ प्राप्त हो जाता है, शाम को फुर्सत मिलने पर उसे जोड़ने में गिनने में लग जाता है। गणना तो करोड़पति भी करता है, हिसाब-किताब यदि करोडपति करता है तो गरीब भिखारी भी करता है। मात्रा में अथवा परिमाण में अंतर हो सकता है। एक का परिमाण लाखों-करोड़ों का होगा तो भिखारी का शायद सैकड़ों में। गणित दोनों करते हैं। भिखारी के हाथ निरन्तर बाहर की ओर ही रहते हैं, दिन में मॉगने में और शाम को हिसाब-किताब करने में। वैसे ही व्यक्ति जब तक मन को बाहर ही बाहर भटकता है, तब तक उसे भीतर की खोज की फुर्सत नहीं मिलती। वह नहीं जान पाता कि चाबी कहाँ है, खजाना कहाँ है ? यद्यपि वह पास में ही है, लेकिन उस पर उसकी निगाह नहीं पड़ती; क्योंकि उसका ध्यान बाहर की ओर होता है। जब तक हाथ बाहर हैं, अन्दर की वस्तु को टटोला नहीं जा सकता।

एक व्यक्ति हिंसा करता है, उसे आप पापी कहते हैं। एक व्यक्ति अपने को अहिंसक मान कर चल रहा है, उसे आप क्या कहेंगे ? आप विचार में पड़ जायेंगें ? यदि वह स्वयं को अहिंसक दर्शा कर चल रहा है, तो भगवान् कहते हैं कि वह भी पाप कर रहा है। दर्शाना क्या है ? जो स्वभाव है, उसका प्रदर्शन क्या करना ? यदि वह अहं करता है तो आचारांग स्पष्ट कहता है- एक व्यक्ति हिंसा करता है, झूठ बोलता है और दूसरा अहिंसक होकर अहिंसा का, सत्य का, दंभ कर रहा है तो वह स्वयं पाप की श्रेणी में जा रहा है। जो नहीं करना चाहिए, वह कर रहा है। वह तो पतन की ओर जायेगा ही पर दंभ करने वाला भी पतन की ओर ही जायेगा। एक व्यक्ति दान कर रहा है तो वह वास्तव में क्या कर रहा है, यह उसकी

मानसिकता पर निर्भर करेगा। लोग सोचेंगे कि वह धन से अपनी ममता हटा रहा है, अपरिग्रही बन रहा है। परन्तु अपरिग्रही बनना बहुत कठिन है। एक व्यक्ति कुछ नहीं देता हुआ भी अपरिग्रही है और एक बहुत–सा दान देता हुआ भी अपरिग्रही नहीं है। कारण के लिये द्वय का स्वरूप जानना होगा। किसी भी चीज को जोड़ते हैं तो वह है– परिग्रह, तोड़ते हैं तो वह है– अपरिग्रह। आप विचार करेंगे, दान से उसने छोड़ा है, तोड़ा नहीं है। उसे दान की श्रेणी में नहीं लिया जा सकता, भले 10–20 हजार रुपये दे दिए।

एक दम्पत्ति महात्मा के पास पहुँचे। थोड़ी देर बैठे। सेवा–उपासना करने के बाद कहने लगे, कोई सेवा–कार्य हो तो बताइये। महात्मा ने कहा– आपकी अच्छी भावना है। बहन ने कहा– महात्मन् ये तो करते ही रहते हैं। अब तक एक लाख का दान कर चुके हैं। पति ने सुधारा– एक लाख दस हजार का दान दिया है। इस प्रकार हम देखें कि वह दान देकर भी, छोड़कर भी जोड़ रहा है कि कितना दिया। वृत्तियों से कुछ जोड़ता है। ये भाव, ये वृत्तियाँ जोड़ी कि मैंने इतना दिया, इतना दान दिया तो बस समझ लीजिये कि इन वृत्तियों के कारण वह परिग्रही बन गया। अपरिग्रही नहीं रह पाया।

दान की परिभाषा करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि– 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं'। स्व का त्याग हो। जिसे त्याग दिया, फिर उस तरफ निगाह नहीं दौड़ानी चाहिये। आपने वमन कर दिया तो क्या उसे बार–बार देखेंगे, सूंघेंगे ? उसका पुनः उपयोग करना चाहेंगे ? नहीं, वैसी ही दान की बात है, जो दे दिया, निकाल दिया, उसकी ओर क्या झाँकना, उसका संदर्भ क्यों देना, उसके किसी भी रूप में उपयोग की चाह क्यों रखना ? व्यक्ति जोड़कर रखता है, छोड़ना कठिन है। जोड़ने की क्रिया गरीब भी करता है, धनी भी करता है। मैं भिखारी की बात कह रहा था। साधन थोड़े हैं, हाथ बाहर हैं। एक तो यथार्थ में भिखारी होता है अर्थात् वह, जिसके पास बाहर का खजाना नहीं होता है। दूसरा वह, जिसके पास बाहरी

खजाना अर्थात् धन सम्पदा बहुत है। परन्तु अंदर का खजाना अर्थात् आत्मा का धन दोनों के पास बराबर होता है। जब तक भीतरी खजाने को नहीं पाया, दोनों ही भिखारी हैं। भीतरी खजाना अर्थात् आत्मा के खजाने से तो केवल पर्दा दूर करने की बात होती है। जिस के पास बाहरी खजाना नहीं है, वह हाथ पसारता है। कवि आनन्दघनजी प्रार्थना करते हैं, प्रार्थना भी एक याचना है। पर वह भी उचित नहीं है। जरा सोचें कि वे क्या देंगे जो सिद्ध हो गये हैं ? उनकी चाहे कितनी भी स्तुति करो या निन्दा करो, वे न तुष्ट होंगे, न रूष्ट होंगे। वे सहज अवस्था में ही रहेंगे। चाहे अरिहन्त की भी स्तुति करें पर वे भी कुछ नहीं दे पायेंगे। वर्तमान में जो साधु हैं, उनकी स्तुति करो तो भी वे क्या दे पायेंगे ? उनके पास धर्मध्यान है पर वे क्या धर्मध्यान दे सकते हैं ? वे तो अपनी सहज प्रवृत्ति से चलते हैं, लेने वाला उनसे प्रेरणा प्राप्त कर धर्मध्यान अपने ही प्रयासों से ले सकता है। परन्तु यदि हमारी तैयारी नहीं है तो हम ले पायेंगे क्या ? हमारी आत्मा के द्वार बंद है तो नहीं ले पायेंगे। द्वार खोलेंगे, तैयारी करेंगे तभी प्राप्त कर पाएंगे, अन्यथा गंगा सामने बहती रहेंगी और हम प्यासे के प्यासे रह जायेंगे। साधु भी देते नहीं है। वे पाने का तरीका बताते हैं। वे कहते हैं कि अभिलषित तुम्हारे भीतर ही है। उसे खोलो तो प्राप्त हो सकता है, खोलने का तरीका सीखो। इसकी भी एक तरकीब होती है। आजकल इस प्रकार के ताले भी होते हैं, जिन्हें खोलने के लिये नम्बर मिलाने पड़ते हैं। नम्बर मिलेंगे तभी ताला खुल पायेगा। अंक न मिले तो चाहे जितनी देर चाबी घुमाओ, ताला नहीं खुलेगा। खोलने की बात तो बताई जा सकती है परन्तु खोलने का पुरुषार्थ तो स्वयं को करना होता है। वह भिखारी प्रतिदिन भीख मांगता था, मांगना उसका रोज का ही काम था। एक दिन उसने देखा कि उसके पास काफी पैसे इकट्ठे हो गए थे। आँखों की रोशनी तो कम थी, कानों से सुनाई भी कम देता था पर इसके बावजूद भी हिसाब वह खूब लगा लेता था। वह पहचान लेता था कि कौन सा सिक्का पचास पैसे का है और कौन सा एक रूपया का है। इस आधार पर

वह गणित कर लेता था। उस दिन उसके कदम जल्दी-जल्दी बढ़ रहे थे। प्रसन्नता थी कि आज पैसे ज्यादा हैं, आमदनी ज्यादा हुई है। उसने सोचा कि पहले तो आमदनी में से कुछ बच जाता तो मैं माँ के पास भेजता था, माँ कितनी खुश होती थी। अब माँ नहीं रही फिर भी कुछ बच गया था। सोचा मैं रोज नमक से रोटी खाता हूँ, मुझे सब्जी भी नसीब नहीं हो पाती, आज इतने पैसे हैं तो अच्छा भोजन करूँगा। रोटी के साथ सब्जी भी बनाऊँगा। अपना गणित लगाता हुआ, वह सहसा किराणा की दुकान की ओर बढ़ गया। उसका रोज का अभ्यास था, दिखाई न देने पर भी ठिकाने पर पहुँच गया। उसने ऑर्डर दिया। आटा-दाल दे दो, लेकिन ज्यों ही जेब में हाथ डाला पैरों तले से जमीन खिसक गई। जेब कट गई थी। उसे बहुत दुःख हुआ। उसे याद आया- जब वह आ रहा था, मार्ग में किसी ने टक्कर ली थी। टक्कर लगाने वाले ने ही जेब साफ कर दी होगी। पैसा जाने का उसे दुःख हुआ। यह दुःख गरीब हो या अमीर सभी को होता है।

दुःख के परिमाण में अंतर हो सकता है। यद्यपि दुःख तो सभी को होता है, चाहे भिखारी हो, चाहे धनवान। चाहे अपाहिज-लाचार हो, चाहे स्वयं जेब काटने वाला हो। कुछ लोग सभ्य तरीके से जेब काटने वाले होते हैं। कोई सीधा सरल व्यक्ति यदि दूकान पर आ जाये तो उसके साथ ईमानदारी, अचौर्य, अपरिग्रह सिद्धांत का पालन नहीं होता। उचित कीमत से ज्यादा लेंगे, उसकी हजामत कर डालेंगे। भिखारी के तो जेब कटने पर विचार आया लेकिन जिसकी हजामत की, उसकी क्या स्थिति बनेगी, उसे कितनी पीड़ा होगी। वह आपकी अनुभूति में नहीं आयेगा। पर यदि स्वयं के साथ ऐसा हो जाये तो लम्बे समय तक याद रखेंगे कि उसने मेरे साथ ऐसी वारदात की थी। ऐसी अवस्थाएँ जिस सीमा तक हमारे भीतर निर्मित होती हैं, उतनी ही सीमा तक, हम श्रेयांसनाथ भगवान् के मार्ग से दूर होते हैं। आध्यात्मिकता के विकास के लिये हम बाहर नहीं झाँके, अपने भीतर टटोलें। वह बाहर उपलब्ध नहीं होगी। वह हमारे भीतर

ही मौजूद है। केवल बीच में पड़े पर्दे को हटाना है। पर्दा हटा तो हमें वह सौंदर्य प्राप्त हो सकता है। हमारी क्रियाएँ जितनी अपने राम में होती हैं, उतनी यदि प्रत्येक में हो जाये तो हम बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी समझ अथवा योग्यता सिर्फ किताबों के अध्ययन से ही प्राप्त नहीं होगी। जो किताबों से प्राप्त होती है, वह स्मृति तक रह जाती है। जब तक उस ज्ञान का अनुभव के साथ संयोग नहीं होगा, वह आपका नहीं बन पायेगा। वह परिग्रह रूप रह जायेगा। व्यक्ति उसे परिग्रह नहीं मानता, किंतु कहा गया है– 'णाणस्स फलं विरई' ज्ञान होने के बाद विरति होनी चाहिए। यदि वह पापाचार में लगा रहा तो वह ज्ञान पतन का कारण होगा।

प्रभु महावीर से प्रश्न किया गया– आत्मा किससे डूबती है, किससे तैरती है ? प्रभु ने कहा– 18 पापों से आत्मा डूबती है, 18 पापों के त्याग से आत्मा तैरती है। जब तक पापों से रहित नहीं है, तैरने का अनुभव नहीं होगा। तैरने की अनुभूति नहीं ली तो वह मजा भी नहीं आयेगा। एक व्यक्ति तैर रहा है, एक खड़ा देख रहा है। जब तक वह हाथ–पैर चलाकर नहीं तैरे, तब तक उसे तैरने की अनुभूति नहीं हो सकती। अनुभूति करने के लिए उसे भी छलांग लगानी होगी। जैसे ही कूदकर तैरने की प्रक्रिया से जुड़ेगा, उसे आनंदानुभूति होगी। कवि ने प्रार्थना की कड़ियों में कहा है–

'निज स्वरूप जे किरिया साधे, नेह अध्यात्म कहिये रे।'

अपने स्वरूप को साधने की क्रिया ही अध्यात्म है। यदि निज स्वरूप को नहीं साधा तो संकट आते ही व्यक्ति घबरा जायेगा। साधु जीवन में स्वरूप साधने की क्रिया नहीं की तो वह रीता ही रह जायेगा। अध्यात्म में प्रवेश के लिए निज स्वरूप को साधना होगा। तभी अध्यात्म का रूप बनेगा। अतः हम पाँच महाव्रतों की बातें ही नहीं करें बल्कि उन्हें जीवन में उतार भी लें, तब वे हमारी प्रवृत्ति बन पायेंगे, जीवन के अणु–अणु में रम पायेंगे। कपड़े उतारे जा सकते हैं। पर अवयव रस आदि शरीर के साथ रहने वाले हैं, जुड़े हुए हैं, जैसे

खून जो हमारी धमनियों में बह रहा होता है, उसमें अनेक तत्त्व मिले होते हैं। यदि कोई बीमारी हो जाये तो रक्त की जांच की जाती है। उसमें क्या कमी है या क्या विकार है ? रक्त के अनेक तत्त्व परस्पर एकमेक हैं, उन्हें अलग करने में कठिनाई होती है। जैसे खून में ये तत्त्व एकमेक हैं, वैसे ही अहिंसा आदि तत्त्व हमारे जीवन व्यवहार में एकमेक हो जायें। ऐसी हमारी प्रवृत्ति बने। यह नहीं कि कोई देख रहा है तो पालन करें, नहीं देखे तो झूठ बोल दें। उस स्थिति में सदाचार नहीं, मिथ्याचार होगा। कोई देख रहा है तो बीड़ी–सिगरेट नहीं पीयें, पर नहीं देख रहा है तो एक कश ले लें। यह दंभ होगा। प्रभु महावीर की दृष्टि में ऐसी प्रकृति अध्यात्म नहीं है, बल्कि वह पाप कर्म में लिप्त रखकर, श्रेय मार्ग से दूर करने वाली है। ऐसी स्थिति में स्वरूप को साधने की बात ही दूर रह जायेगी। बातों से हटकर परमात्मा से नैकट्य स्थापित करेंगे, तब ही अनुभव प्राप्ति की स्थिति बनेगी। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति जिसमें लीन होता है उसमें उसे असीम सौंदर्य के दर्शन होते हैं। परमात्मा को निकटता में, उसकी छवि को देखने के बाद वह कहेगा– प्रभु आपसे बढ़कर और कोई सौंदर्यशाली नहीं है। यही भक्ति का वास्तविक स्वरूप है।

अपनी नवविवाहिता पत्नी के सौंदर्य पर मुग्ध प्रेमी को अपनी प्रियातमा के शरीर में उत्पन्न फोड़े में भी सौंदर्य ही दिखाई देता है। इस प्रकार मुग्ध हुआ वह प्रेमी काल धर्म को प्राप्त कर, उसी फोड़े में कीड़े के रूप में जन्म लेता है। पहले दूसरे देवलोकों के देव पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि में आसक्त होकर देवलोक से निकलकर पृथ्वी, पानी, वनस्पति में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार दिव्य लोक की रिद्धि से समृद्ध देवों का आसक्ति के कारण ही एकेन्द्रिय रूपों में पतन होता है। व्यक्ति जिसमें लीन होता है, उसीमें उसे सारा सौंदर्य दिखाई देता है। आपने भी यदि समकित से सगाई नहीं की तो वहाँ कुंवारापन ही रहेगा। समकित से सगाई कर ली फिर कोई बदलाने की कोशिश करें तो क्या उसे पतिव्रता कहेंगे ? कहते हैं– "त्रिया तेल, हमीर हठ, चढ़े न दूजी बार" स्त्री को तेल एक बार ही चढ़ता

है। दूसरी बार विवाह होगा तो तेल नहीं चढ़ेगा, बिना तेल के ही पुनर्विवाह (नाता) होगा। उसी प्रकार जिसने सम्यक्त्व से संबंध स्थापित कर लिया, वह विपरीत अवस्था से नहीं जुड़ेगा। लेकिन आज व्यक्ति समस्याओं में उलझा रहता है। यदि समस्याओं को सुलझाना है, उनके हल ढूँढ़ने हैं तो चिन्ता छोड़कर, निरान्त होकर कोशिश करें। स्वयं को हल्का बनायें तो प्रत्येक समस्या का समाधान ढूँढ़ पायेंगे। आज हमारी समस्या यही है कि हम अहिंसा के सिद्धांत को जान तो रहे हैं पर उसे व्यवहार में उतार नहीं पा रहे हैं। ये हमारी प्रकृति के साथ कैसे एकमेक बने ? इस पर चिन्तन करें। यदि इन सिद्धांतों को शरीर के अवयवों की तरह जीवन का अंग बना लें तो जीवन मंगलमय बन जायेगा। जीवन के ऐसे मंगलमय रूप की प्राप्ति हेतु ही तो सम्पूर्ण क्रियाएँ एवं अध्यवसाय होते हैं। अतः सांसारिकता का त्याग कर निज स्वरूप में रमण करते हुए, तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर हम चलें और इस जन्म को सफल बनायें।

दि. 20-10-96

२. शाश्वत सुख का मार्ग : आत्मानुशासन

दुःरव की मूलभूत अवस्था अविद्या से आरोपित होती है। और अविद्या में ही उसका केन्द्र होता है। अविद्या का व्यापक एवं विराट् रूप व्यक्ति देरव नहीं पाता तथापि वह सर्वांगीण होती है एवं आत्मा के एक देश को ही नहीं, सभी आत्म–प्रदेशों को आच्छादित किये रहती है। आगम का भी उद्घोष है– 'सव्वं सव्वेण बंधई।'

आत्मा के प्रत्येक प्रदेश से उसका संबंध होता है। प्रभु महावीर ने कहा है– 'अप्पा कत्ता विकत्ता य' अर्थात् आत्मा ही कर्त्ता है, भोक्ता है। अविद्या की स्थितियों को दूर करने के लिए उत्क्रांति भी आत्मा ही करती है। यदि वह उत्क्रांति सफल हो जाय तो आत्म–उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। परन्तु यदि सफल होने की स्थिति नहीं बन पाये तो आत्मघाती स्वरूप भी बन सकता है। इस दृष्टि से प्रभु महावीर का प्रदेय अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्होंने उत्क्रान्ति का अत्यंत विशिष्ट रूप उद्घाटित किया और युग को नया संदेश दिया। ऐसा वह युग था, जिसमें यह मान कर चला जा रहा था कि– ईश्वर की आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ईश्वर को एक सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया था और इस प्रकार प्रकारान्तर से यह उद्घोष किया गया था कि आत्मा ईश्वर नहीं बन सकता, वह सदा परतंत्र है, ईश्वर की इच्छा के बिना वह कुछ नहीं कर सकता। ऐसे युग में प्रभु महावीर ने प्रत्येक आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का बोध कराने वाला दर्शन प्रतिपादित किया। उन्होंने स्पष्ट किया– आत्मा ही कर्त्ता–भोक्ता है तथा दुःख या कष्ट ईश्वर–प्रदत्त नहीं होते। ईश्वर के कारण भी कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है, उसके तुम स्वयं ही, करने वाले होते हो। जैसा कर रहे हो, वैसा भोग भी तुम्हें ही करना है।

लगभग 150 वर्ष हुए, एक पाश्चात्य विचारक नीत्शे ने अपने चिन्तन के आधार पर कहा था– ईश्वर मर चुका है, अब ईश्वर इस दुनियाँ में ही नहीं रहा। नीत्शे के चिंतन का स्वरूप अथवा उद्देश्य कुछ भी रहा हो परन्तु उसमें यह भाव तो अंतर्निहित हैं ही कि आत्मा ही सर्वांगीण विकास कर परमात्मा बन जाता है, अलग से ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। नीत्शे ने जो यह कहा कि ईश्वर मर गया है, सो भी प्रकारान्तर से उसने यह माना ही है कि ईश्वर कभी था पर आज नहीं है। आज अनाचार के क्रूर ताण्डव को देरव कर, इस विचार की पुष्टि की जा सकती है कि आज ईश्वर नहीं है। यदि उसकी सत्ता होती तो अत्याचार, अनाचार, हिंसा, अपराध आदि का जो ताण्डव नत्य हो रहा है, वह नहीं होता। ये स्थितियाँ अनुभव कराती हैं कि ईश्वर यदि कभी था भी, तो अब वह मर चुका है। दोनों ही स्थितियों में उसका नियंत्रण हट चुका है।

प्रभु ने कहा– ईश्वर नहीं है, नीत्शे ने कहा– मर गया है। इन कथनों से दो भाव उद्घाटित होते हैं–पहला स्वतंत्रता का, दूसरा स्वछंदता का। बात हल्की नहीं है, ध्यान देंगे तो मर्म को पकड़ पायेंगे। भगवान् महावीर ने कहा है– ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो वे आत्मा को स्वतंत्रता की डगर दिखाते हैं कि तू क्यों कुंठित होता है, तू तो स्वयं कर्त्ता है, फिर भयभीत क्यों है ? किये का फल मिलता है, अतः संभल जा। संभल जायेगा तो भविष्य उज्ज्वल होगा। वर्तमान में संभल गये तो भविष्य की चाबी आपके हाथ में होगी। जरा विचार कीजिये कि यदि स्कूटर सड़क पर खड़ा है पर चाबी आपकी जेब में है तो उसकी सुरक्षा के प्रति आप निश्चिन्त रहेंगे परन्तु चाबी यदि स्कूटर में ही लगी रह जाय और आप यहाँ आकर सामायिक ले लें तो फिर ध्यान बना रहेगा कि चाबी लगी रह गई, परिणामस्वरूप सामायिक में आप एकाग्रचित्त नहीं हो पायेंगे। किसी अन्य व्यक्ति ने अपना स्कूटर भी स्टार्ट किया तो आपके मन में आयेगा कि कहीं मेरा स्कूटर तो नहीं ले जा रहा है ? चाबी पास में आ जाय तो संतोष बना रहेगा। इसीलिये प्रभु महावीर ने कहा कि वर्तमान को संभाल लो तो

भविष्य की चाबी स्वतः ही हाथ में आ जाएगी। भविष्य की चिन्ता नहीं रहेगी। जैसा चाहोगे, वैसा भविष्य निर्मित कर सकोगे। यदि चाबी को स्वयं नहीं संभाला और वह दूसरे के हाथ में पकड़ा दी तो फिर वह जैसे चलायेगा, वैसे चलना पड़ेगा। यंत्रवत् स्थिति हो जायेगी। पौरुष जागृत नहीं कर पाएंगे। इस प्रकार प्रकारान्तर से पौरुष की हत्या कर देंगे और स्वयं के प्रति हिंसा करने के अपराधी बन जायेंगे। इसलिये यदि इस हिंसा से बचना है तो पौरुष को जागृत करो, यदि पौरुष जागृत हो गया तो अहिंसा के भाव जागृत हो जायेंगे, अतः पहली आवश्यकता तो यह है कि स्वयं की हिंसा मत करो। यदि प्रमाद में पड़े रहे तो पौरुष जगा नहीं पाओगे, यह स्वयं की हिंसा है, अतः पहले स्वयं को उबारने का प्रयत्न करो। तात्पर्य यह है कि प्रदर्शन का नहीं बल्कि यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने का प्रयत्न हो। यहाँ जो स्वतंत्रता का उद्घोष है, वह इसलिये है कि यदि क्रांति घटित होगी तो स्वतंत्रता की डगर पर चरण–न्यास होगा अन्यथा व्यक्ति स्वछंदता को ही स्वतंत्रता मान कर पथभ्रष्ट होता रहेगा। स्वतंत्रता उपादेय है, जबकि स्वछंदता त्याज्य है। एक ऊपर उठाने वाली है तो दूसरी नीचे गिराने वाली है। इनका रूप इतना मिलता–जुलता है कि दूर से देखने पर ये समान लगती है, इसीलिये व्यक्ति इन्हें पहचान नहीं पाता।

तनिक कल्पना कीजिये– एक दुकान है, जिसमें दो पुतलियाँ लगी हैं। व्यापारी आते हैं और अन्य दुकानों को देखता हुआ एक ग्राहक भी उस दुकान में पहुँच जाता है। वह दोनों पुतलियों को देखता है– रूप–रंग में दोनों सदृश है। वह मुग्ध हो जाता है– ओह ! कितनी सुन्दर कलाकृत्ति है ! किन्तु नीचे दृष्टि दौड़ती है तो देखता है कि एक पर लिखा है 'कीमत पाँच रूपये' और दूसरी पर 'पचास हजार रूपये'। ग्राहक सोचने लगता है, ये कैसी बात ! यह कैसी बुद्धिमानी है, कीमत में इतना अन्तर क्यों ? कहीं दुकानदार से लिखने में भूल तो नहीं हो गई है ? ग्राहक पूछता है तो दुकानदार कहता है– भूल नहीं हुई है। उसका कथन सही है। समान मूर्तियाँ,

पर मूल्य अलग–अलग, यह बात यथार्थ है। यथार्थ कैसे है ? दुकानदार ने प्रमाण प्रस्तुत किया। उसने एक पुतली के कान में एक शलाका डाली तो वह दूसरे कान से बाहर निकल गई। परन्तु जब दूसरी पुतली के कान में डाली तो वह निकली नहीं, बल्कि हृदय में प्रविष्ट हो गई, यही महत्व की बात है। आकार–प्रकार समान है पर एक हृदय की गहराई तक पहुँचाने वाली है, और एक ऊपर से निकालने वाली है। यही बात प्रभु महावीर व नीत्शे के कथनों के संदर्भ में भी है। यद्यपि बाहर से दोनों कथन समान लग रहे हैं। व्यक्ति सहसा समझ नहीं पाता कि स्वतंत्रता और स्वछंदता में क्या अंतर है ? स्वछन्दता ऊपर–ऊपर तिराने वाली है, जबकि स्वतंत्रता आत्मनिष्ठ है। नीत्शे ने कहा– ईश्वर मर गया है तब लोग सोच सकते हैं कि चाहे जैसा करो, खाओ–पीओ, मौज उड़ाओ, कोई रोक–टोक नहीं है।

एक उदाहरण लें। एक पिता की दो संताने हैं। पिता की मृत्यु हो गई। प्रश्न उनके सामने आया कि क्या करें ? एक सोचता है अब क्या है, इतने दिन बुड्ढा था तो हर बात में डाँट–डपट करता था, मस्ती से कोई काम नहीं कर पाता था। वे कहते– ऐसा कर दिया, वैसा कर दिया। अब कोई टोंकने वाला नहीं है। गुलछर्रे उड़ाओ, खाओ–पीओ मौज मनाओ। शराब के जाम उड़ाओ। दूसरा सोचता है– अब पिताजी नहीं रहे, अतः अब सारा उत्तरदायित्व मुझ पर है। अब तक आचार–व्यवहार में यदि गल्तियाँ भी होती थी तो पिताजी परिमार्जन कर देते थे। अब पिताजी मौजूद नहीं हैं तो मुझे अधिक सावधान रहना होगा। अब मुझ पर कोई कंट्रोल नहीं है, अतः स्वनियंत्रण को जागृत करना होगा। चाबी/लगाम मेरे हाथ में रहे। मेरे पैर गलत राह पर भटके नहीं, बल्कि सही दिशा में गतिशील रहें। सोचें कि सत्ता रूप से क्या ईश्वर ही सब कुछ करा रहा है, उसके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता तो क्या पाप कराने वाला भी ईश्वर है ? यह तांडव नृत्य, यह अहं का भाव भी ईश्वर कृत है ? हम कहेंगे, यह ईश्वर कृत नहीं है। कर्म करने की स्वतंत्रता है तो फिर भोग में स्वतंत्रता क्यों

नहीं ? वह सृष्टि रच कर समाप्त क्यों करता है। एक अन्य पक्ष ईश्वर को सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करता पर वह मानता है कि प्रभु महावीर ने आत्मानुशासन की बात कही है– स्वतन्त्र बनो पर आत्मानुशासन की डोर हाथ में ही रहनी चाहिए। कवि आनंदघन जी ने भी कहा है– निज स्वरूप जे किरिया साधे........।

जो क्रिया आत्मानुशासन–पूर्वक, स्वरूप–ज्ञान से की जायेगी, वह आध्यात्मिक क्रिया होगी, आत्मोत्कर्ष के लिए होगी। यदि किसी अभिभावक अथवा प्रशिक्षक का अंकुश नहीं रहा तो समझो कि खुले मैदान में घोड़ा है, चाहे जितना दौड़ाते रहो। ऐसी अवस्था में बहुत कम व्यक्ति उचित निर्णय कर पाते हैं। सामान्यतः कर्त्तव्य–भाव भूल कर सुख में फूल जाते हैं, दुःख में कुम्हला जाते हैं। परन्तु जैसे बीज बोये हैं, वैसे ही फल मिलेंगे। बबूल बोये हैं तो कांटे ही मिलेंगे। लेकिन यदि चाबी हाथ में ले ली, वर्तमान को सुधारा तो भविष्य निश्चित रूप से सुधर जायेगा। पर यदि वर्तमान में प्रमाद एवं आलस्य में पड़े रहे तो भविष्य के सुन्दर स्वप्न, स्वप्न ही रह जायेंगे। वर्तमान हाथ में नहीं तो आगत भी हाथ में नहीं रहेगा। वह कोई उड़ती चिड़िया नहीं है। उड़ती चिड़िया तो संभव है फिर भी कोई पकड़ ले, पर भविष्य तो अदृष्ट होता है। उसे अच्छा कैसे बनायें, चाबी आपके हाथ है। सोचें कि लाईट और पंखा ऊपर है, वहाँ तक आपका हाथ ऊपर नहीं जाता पर जहाँ स्विच है, वहाँ तक तो आपका हाथ पहुँचता ही है। उसे दबाया जाय तो प्रकाश और हवा पा लेंगे। चाबी यहाँ है, भविष्य वहाँ है, कंट्रोल तुम्हारे हाथ है, चाहे जब प्रकाश प्राप्त कर लो। वर्तमान को सुदृढ़ कर लिया, आत्मा को अनुशासन में ढाल लिया तो भविष्य नहीं बिगड़ सकेगा। तब भविष्य हमारे इशारों पर चलेगा, उसका चाहे जैसा निर्माण कर लो।

एक व्यक्ति मकान बनाना चाहता है तो पहले उसे नक्शा बनाना होगा। जिस आकार का मकान बनाना है, तदनुसार नींव भरनी होगी। यदि मकान गोलाकार बनाना है तो नींव भी गोल भरनी होगी। नींव अलग आकार की हो और मकान अलग आकार का चाहें,

तो यह संभव नहीं होगा। प्रभु ने नींव वर्तमान को कहा है– "हमारी स्वतंत्रता आत्मानुशासित हो, उस पर अविद्या हावी न हो।" हावी हो गई तो भी यदि लगाम हाथ में है तो हम उसे पछाड़ देंगे। आज व्यक्ति का जीवन कैसा है ? उसकी क्रिया कैसी हो रही है– निज स्वरूप को साधने की या चार गति को साधने की ? संसार में रहे तो चार गति के मालिक बनेंगे, मोक्ष गये तो सिद्ध गति का स्वामित्व मिलेगा। लेकिन ये चार गति के घोड़े यदि बिगड़ गये तो क्या हालत होगी ? कोई इधर खिंचेगा तो कोई उधर। उस स्थिति में नियंत्रण कठिन हो जायेगा।

प्रभु महावीर के कहने का अभिप्राय यह है कि एक को साधो। कहावत भी है– "एके साधे सब सधे।" एक को साध लिया तो निज स्वरूप में अवस्थित होंगे। चार गति घूमते रहे तो स्वछंदता बढ़ेगी। आत्मानुशासन की लगाम थाम कर वर्तमान क्षण को हाथ में लेकर गति करते रहे तो शाश्वत सुख के अधिकारी बन पाएँगे। चाहिए, लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठ समपर्ण ! परन्तु यह समर्पण सर्वतोभावेन होना चाहिये। समर्पण करने के बाद किसी भी प्रकार की भावना का न जागरण हो, न किसी आकांक्षा का अवकाश रहे। अब क्या करना है, यह सोचना उनका विषय है, जिनके प्रति समर्पण कर दिया जाता है। यह जीवन–बेल कैसे फैले, यह सोचना उनका उत्तरदायित्व है। यदि इस प्रकार का समर्पण नहीं रहा तो स्वछंदता बढ़ेगी और चार गति के घोड़े दुलत्ती मारकर पतन के गर्त में गिरायेंगे। नीत्शे नियंत्रण नहीं रख पाया था, अतः वह पागल हो गया। जबकि भगवान् महावीर आत्मनियंत्रण एवं आत्मानुशासन की सिद्धि के कारण अविद्या को हटा कर शाश्वत सुरव के अधिकारी बने। इसलिये यह समझ लेने की बात है कि यदि निजस्वरूप को प्राप्त कर लिया जाय तो अविद्या की बेल फैले ही नहीं और शाश्वत सुख की प्राप्ति में काई बाधा ही न आये। हमारे प्रयास इसी दिशा में रहें, यह हम सुनिश्चित करें, यह आवश्यक है।

दि. 22-10-96

३. अविद्या से मुक्ति : जीवन की सिद्धि

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी हैं। उनकी भक्ति के संदर्भ में कहा गया है– जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुख संभवा......'। अर्थात् श्रेयांसनाथ भगवान् की प्रार्थना श्रेय अवस्था को प्राप्त करवाने में सहायक हो सकती है। "सहायक हो सकती है" क्यों कहा गया ? "सहायक है" ऐसा क्यों नहीं कहा गया ? इसके कारण पर विचार करें। हम जानते हैं कि किसी भी पदार्थ, वस्तु अथवा शब्द की जब तक चेतना स्वयं निमित्त भूत न बनालें, तब तक वह उसके लिए उपयोगी अथवा कल्याणकारी बने, यह कम संभव है। चाहे पौद्गलिक स्थिति ही हो परन्तु उसे भी यदि चेतना निमित्त बना ले तो छोटी बात भी जीवन को मोड़ देने वाली हो सकती है। नहीं तो बहुत सी और बड़ी–बड़ी बातें ही क्यों न हो जायें, व्यक्ति संभल नहीं पाता। छोटा बालक खेल–कूद मौज–शौक में लगा रहता है। कभी गेंद से खेलता है, कभी खिलौने से। ऐसे ही खेल खेलता एक बालक अचानक मकान की छत पर पहुँचा। सहसा संगीत–उत्सव की स्वर लहरियाँ उसके कानों में पड़ीं। विचार करने लगा– यह मधुर संगीत, यह उत्सव किस निमित्त से हो रहा है। वह दौड़ा हुआ माता के पास पहुँचा। बच्चे का माता पर जितना विश्वास होता है, उतना अन्य किसी पर नहीं। माँ जो इंगित कर दे, वह उसे ही मानने को तैयार हो जाता है। बालक ने माँ से पूछा– ये गीत–उत्सव क्यों हो रहे हैं ? माता ने कहा– "बेटा ! अपने ही पड़ौस में एक नये सदस्य का आगमन हुआ है। पुत्र जन्म के कारण वे लोग हर्ष–उत्सव मना रहे हैं। संगीत लहरियाँ लहरा रही हैं, बधावे दिये जा रहे हैं। हँस–हँस कर बधाइयाँ ले रहे हैं और बदले में मुँह मीठा कर रहे हैं।" बालक का समाधान हो गया। फिर खेल में मस्त हो गया। अगली बार

खेल-खेल में गेंद जब छत पर पहुँची, तब वह पुनः दौड़ता हुआ छत पर पहुँचा। देखा कुहराम मचा हुआ था। जहाँ शहनाई बज रही थी, वहाँ करुण-क्रन्दन हो रहा था। लोग छाती पीट रहे थे, रोना-धोना हो रहा था। बच्चे ने सोचा, अभी थोड़ी देर पहले तो वह दृश्य था, इतने से समय में यह बदल कैसे गया ? आप समझते हैं, पर बच्चा क्या समझे ? वह फिर माँ के पास गया। पूछा माँ, ये क्या हो रहा है ? माँ ने कहा- बेटा ! जो मेहमान आया था, वह रवाना हो गया है, मृत्यु को प्राप्त हो गया है। उसने पूछा- माँ ! ऐसा कैसे हो गया ? उत्तर मिला- बेटे ! यही दुनिया की रीत है। जो जन्मता है, वह मरता है। बच्चे को जिज्ञासा हुई- क्या मैं भी मरूंगा ? माँ ने बालक के मुंह पर हाथ रख दिया। बच्चे ने सोचा अब माँ से कुछ कहना ठीक नहीं, पर मन में टीस हुई, समाधान नहीं मिला था। बात आई-गई हो गई। समय आने पर माँ ने कई कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया। संयोग से भगवान् अरिष्टनेमि का आगमन हुआ। वह प्रभु के दर्शनार्थ पहुँचा, उपदेश सुना-'क्षरति इति शरीरम्' शरीर प्रतिपल क्षरणशील है। व्यक्ति भले सोचे- बचपन ही बना रहे पर वह बचपन से जवानी और जवानी से बुढ़ापे, बुढ़ापे से मृत्यु की ओर निरंतर बढ़ता जाता है। उसे ज्ञात नहीं होता कि कौन सा क्षण, उसे मृत्यु के मुख में पहुँचा देगा। आप जानते हैं, ज्ञानी हैं, पर मौत का क्षण आयेगा तो धूजने लगेंगे। जब जान रहे हैं कि मरना निश्चित है, प्रतिक्षण मर रहे हैं, प्रति सैकंड मर रहे हैं, फिर भी घड़ी देखेंगे- कितना समय हो गया। यह नहीं देखेंगे कि कितना समय खो दिया। वर्षगांठ मनाते हैं पर यह नहीं सोचते कि मैंने एक वर्ष और खो दिया ? कौन समझाये ?

भगवान् ने कहा- शरीर मरण धर्मा है, शाश्वत नहीं, निरन्तर क्षीण हो रहा है। व्यक्ति मकान बनाता है पर शरीर कहता है, चाहे कितने ही मकान बनाओ पर एक दिन सब खण्डहर बन जायेंगे। आज जिसमें व्यक्ति आसक्त है, उसमें एक दिन कोई रहने वाला नहीं होगा। इतना जानलें कि वस्तुतः यह चेतना ही अखंड है, जो इसे

जान ले और मकान की छत गिरने, टूटने से पहले ही संभल जाय, वह बच सकता है। पर यदि जान–बूझ कर भी भीतर बैठा रहे और छत गिर जाये तो क्या होगा ? सब कुछ समाप्त हो जायेगा। इसलिये गिरने से पूर्व ही संभल जाय, उसके भीतर रखी सम्पदा को सुरक्षित करलें। मकान में हीरे–जवाहरात, माणिक–मोती हैं पर न जाने कब छत गिर जाये। यह समझ कर, उसे वह भंडार लेकर बाहर निकल जाना चाहिये। उस बालक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। माता से पूछा था तब माता ने मुँह पर हाथ रख दिया था। अब जब वह बालक जवान हो गया, उसकी जिज्ञासा का स्वतः समाधान हो गया। वह चिन्तन करने लगा– मेरा भी शरीर जाने वाला है, रुकने वाला नहीं है। मौत का एक झोंका लगा कि जीवन वृक्ष गिरा।

मौत की हवा का झोंका एक आयेगा,
जिन्दगी का वृक्ष तेरा टूट जायेगा।

सड़क के किनारे एक बड़ा वट वृक्ष था। पास में ही छोटे झाड़ भी थे। उस वट वृक्ष पर अनेक पक्षी घर बना कर रह रहे थे। कोई भी राहगीर आता तो उसकी छाँव में विश्राम करता था। छोटे–छोटे झाड़ देखते रहते। उनमें ईर्ष्या–भाव जगा– हम भी तो यहाँ खड़े हैं, सड़क के किनारे! परन्तु जो पक्षी और पथिक हैं, उस विशाल वट वृक्ष की ही शरण लेते हैं, हमारे पास कोई पक्षी या पथिक नहीं फटकता। उन्होंने चिल्ला कर कहा भी "अरे, हमारे पास भी आओ', पर कोई सुनने वाला नहीं था। संयोग से एक बार भयंकर तूफान आया, जिसकी चपेट में आकर उस वृक्ष की एक टहनी टूट गई। पक्षी भी उस अंधड़ से बचने के लिये छोटे झाड़ पर जाकर बैठ गये। समय के साथ तूफान शांत हुआ। छोटे झाड़, अब अपने को गौरवान्वित मानते हुए कहने लगे– देखा, क्या दुर्दशा हुई उसकी ! सारे आश्रित पक्षी हमारी ही शरण में आ गये। पेड़ ने कहा– भाई क्या कह रहे हो ? मेरी बात कर रहे हो पर यह क्यों नहीं सोचते कि मैंने सदा तूफानों को झेला है। समय के साथ पत्ते जरूर झड़ते हैं किन्तु

जब तक मूल सुरक्षित है, टहनियाँ फिर पनपेंगी। जो पक्षी उड़ गये थे, उनके छोटे बच्चे कहने लगे– अब वहाँ नहीं चलना है, वहाँ तूफान आते हैं तो शाखाएँ गिर पड़ती हैं। बड़े पक्षियों ने कहा– तुम नहीं समझते हो, यदि आश्रय लेना है तो उस वट वृक्ष का ही लो। एक शाखा भले ही टूट गई हो पर वृक्ष सुरक्षित है। तूफान झेलने में वह हर तरह से सक्षम है। उसके गुण कह रहे हैं– तूफान सहन करो। शीघ्र ही उड़–उड़ कर सारे पक्षी फिर उसी वट वृक्ष पर आ गये। छोटे झाड़ देखते रह गये। साल–छह महीने बीते नहीं कि वृक्ष पर फिर नयी शाखा–प्रशाखाएँ आ गईं, और वह लहलहाने लगा। कौनसी शाखा टूटी थी, उसका निशान भी न रहा। ऐसी अवस्थाएँ बनती रहती हैं, यह प्रकृति की व्यवस्था है।

बालक युवा हो गया। सुना, मौत के झोंके में जीवन वृक्ष टूट जायेगा, कभी भी टूट जायेगा। कभी शाखा–प्रशाखाएँ और कभी छोटे झाड़ टूट जाते हैं क्योंकि ये काल का प्रवाह है। व्यक्ति भी सुरक्षित नहीं है। प्रतिपल मृत्यु निकट आ रही है यह बोध कितनों को हो पाता है। सभी बच्चे युवा होंगे या नहीं, बुढ़ापा आयेगा या नहीं, या कोई जवानी में ही रवाना हो जायेगा, इसका कोई गणित नहीं है। दादा–परदादा बैठे रह जाते हैं पर पोते–पड़पोते चले जाते हैं। किसकी गाड़ी पहले और किसकी पीछे जायेगी, यह ज्ञात नहीं। व्यवहार की बात तो जानते हैं कि एक्सप्रेस तेज चलती है और पैसिंजर धीरे पर स्वयं किस में सवार हैं, इसका पता नहीं। काल अपने राज्य में किस को 'लोकल' और किस को तत्काल 'एक्सप्रेस' बना दे, यह भी पता नहीं। वैसे ही जैसे सरकारी ऑर्डर निकलते हैं और तत्काल प्रभावी हो जाते हैं। पेट्रोल की कीमत यदि बढती है तो रात को 12 बजे ऑर्डर लागू हो जाता है और दूसरे दिन जब आप पहुँचते हैं तब पिछले दिन की कीमत पर नहीं, सुबह की कीमत पर पेट्रोल लेना पड़ता है। यह है तत्काल प्रभाव। काल भी तत्काल प्रभाव दिखाता है।

अरिष्टनेमि प्रभु की देशना सुन कर बोध पाया। बालक माँ के पास पहुँचा– "माँ मैं दीक्षा लूंगा। माता, मेरा समाधान हो गया है, मेरे मकान की छत गिरे, इससे पूर्व ही मैं तैयारी कर लेना चाहता हूँ। मकान खाली करना ही होगा। एक ने तैयारी कर ली– सामान बांधकर, घंटी लगी तो रवाना हो गया। एक गफलत में सोया रहा और मकान की छत गिर गई तो फिर कुछ नहीं हो सकेगा। अतः अलर्ट, सावधान। इन्तजार नहीं करना है। लम्बा संवाद है– माता–पुत्र का, पूरा कहने की आवश्यकता नहीं। आप लोगों ने बहुत बार सुना होगा पर फिर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कई बार (इन बहनों की तरफ इंगित करते हुए) सुभद्राओं ने कहा होगा, पर धन्ना जी के लगे तब न ? शालीभद्र बने हुए हो, धीरे–धीरे समझाऊँगा। शालीभद्र क्यों बने हो ? धन्ना ने क्या कहा था– 'कायर सुन री तेरा भाई इक–इक नारी छोड़े।' तुम्हारा भाई कायर है, एक–एक छोड़ेगा। शूरवीर को साँप की तरह केंचुली त्यागने में कितनी देर लगती है ? ओ हो ! धीरे–धीरे समझाओगे ? न जाने क्या समझाओगे, इसलिए कह रहा हूँ शालीभद्र बने हो। धन्ना को भी सुभद्रा ने पकड़ा, अविद्या ने पैर पकड़े, पर वचन बाण का घायल शूरा लौट नहीं सकता। जिसने क्षरण अवस्था को जान लिया, वह इतंजार नहीं करता। वह भी माता के पास अनुनय कर रहा है। माता ने देखा– अब यह रुकने वाला नहीं है। वह कृष्ण वासुदेव के पास पहुँची। घटना कह सुनाई। निवेदन किया– मेरा पुत्र प्रभु के चरणों में दीक्षित होना चाहता है। जिसने क्षरण अवस्था जान ली है, वही दीक्षा ले पाता है। मैं कह गया हूँ कि श्रेयांसनाथ भगवान् की प्रार्थना सहायक बन सकती है, यदि बना ली जाय तो, अन्यथा प्रार्थना तो रोज करते हैं पर कौन सी गरज सरी, कितने कदम बढ़ाये ? नहीं बढ़ा पाये तो प्रार्थना का उपयोग कहाँ हुआ ? इसलिए मैंने कहा था कि प्रार्थना सहायक बन सकती है बशर्ते आत्मा इसे अपने आप में सहयोगी बना ले। बना ले तो वह मंजिल तक पहुँचाने में सहयोगी होगी। प्रभु महावीर कहते हैं– कैसे बनायें ? जब तक स्वरूप का ज्ञान नहीं, अविद्या की घनी छाया है,

तब तक आप भीतर का स्वरूप नहीं देख पायेंगे। दुनियाँ को देखते हैं पर स्वयं का ठिकाना नहीं।

'हुं कोण छुं, क्यां थी थयो, सुं स्वरूप छे म्हारो खरो'

हुं कौन छुं ? संतों के पास दर्शनार्थ आते हैं, पूछते हैं– महाराज! म्हने पहचाण्यो। महाराज न भी पहचाने तो कोई फर्क पड़ने वाला नहीं पर तुमने स्वयं को पहचाना या नहीं ? महाराज ने पहचान लिया, पर जब तक तुमने स्वयं को नहीं पहचाना, तब तक दीपक तले अंधेरा ही रहेगा।

श्रीमद् रायचन्द ने कहा है– तूं कौन है ? तेरा स्वरूप क्या है ? यह समझ पाना बहुत कठिन है। दूसरे को देखना सरल है, पर स्वयं को देखना कठिन ही नहीं, महाकठिन है। स्वयं को देखें तो फिर बाहर देखने की जरुरत ही नहीं रहेगी। पर यह स्वयं को देखना ही कठिन है। अविद्या की कालिख चारों ओर ऐसी जमी है कि व्यक्ति स्वयं को देख ही नहीं पाता।

मैं कह गया हूँ कि बात भले ही छोटी हो, निमित्त कोई भी हो पर चेतना उसे निमित्त न बनावे तो आत्म–लाभ नहीं होगा। वैसे तो लाभ होता है पर व्यक्ति अपनी अवधारणाओं के अनुरूप लाभ नहीं उठा पाता। तीन मनोरथ या छोटी सी घटना भी परिवर्तन में सहायक हो सकती है। छोटी सी चिनगारी ज्वाला भी बन सकती है। ज्वाला कषाय की भी होती है पर यहाँ ज्वाला है– 'ज्ञान की'। वह अविद्या को जला कर भस्म कर सकती है, बशर्ते हम उसका उपयोग करें। ज्ञान की चिनगारियाँ उछल रही हैं, उनका उपयोग कर उन्हें यदि अविद्या से लगा दिया तो ज्ञान, दर्शन चारित्र, आत्म–दर्शन का लाभ प्राप्त हो सकता है। आत्मा ऊपर उठ सकता है, थावच्चा पुत्र की भाँति भाव तो जागे– 'संसार खारा जहर है, संयम में लीला लहर है।'

अनुभव करके देखिये, अनुभव बिना क्या मालूम पड़े कि लीला लहर है। दूर के पहाड़ दिखने में सुन्दर लगते हैं पर पास

जाकर देखें, तब उनकी वास्तविकता का पता चलता है। संयम खजूर के वृक्ष की भाँति है– चढ़े तो चाखे प्रेम रस, गिरे तो चकनाचूर। संयम पोशाक बदलने से नहीं आता, अनुभूति करो। इसलिए कहा है– श्रावक पौषध करे कि उसमें कितना आनंद आता है। पौषध में रम जाओ और उस आनंद का 'सेम्पल' देखो फिर साधु जीवन खरीदो। पर आज सामायिक–पौषध भी पोषक नहीं रहे, प्रवाह मात्र हैं, क्योंकि स्वयं का जागरण नहीं है, अतः स्वरूप को समझो। यदि स्वयं को जगाना है तो तीन मनोरथ का चिन्तन करते हुए, इसी दिशा में गतिशील बनो। अविद्या दूर होगी तो श्रेयांसनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए हम भी श्रेयांसनाथ भगवान् का स्वरूप प्राप्त कर पायेंगे।

दि. 23-10-96

४. त्याग-प्रत्याख्यानों का महत्त्व

जीवन में श्रेय की प्राप्ति और दुःखों से मुक्ति के लिए प्रभु महावीर का संदेश हैं– जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुख संभवा (उत्तराध्ययन सूत्र 6/1)। दुःख से बचना चाहते हो तो बचा जा सकता हैं पर उसके लिये दुःख की जड़ को ढूंढना होगा। ऊपर से वृक्ष को काटते रहे पर जड सुरक्षित रही तो वृक्ष पुनः–पुनः पनपता रहेगा। जैसे ही हवा–पानी–खाद का सिंचन मिलेगा, वह पुनः बढ़ जायेगा, समाप्त नहीं होगा। यही बात दुःखों के वृक्ष की है, क्योंकि इसकी अविद्या रूप जड विद्यमान रहती है। यदि समय–समय पर उसे सिंचन मिलता रहेगा तो श्रेय मार्ग पर कदम बढ़ाना कठिन बना रहेगा। इस संदर्भ में छोटे–छोटे त्याग–प्रत्याख्यानों के महत्त्व पर विचार करना आवश्यक हैं। उनसे संबंधित गलत धारणाओं का निवारण भी आवश्यक हैं। छोटे–छोटे त्याग–प्रत्याख्यानों के विषय में जब कहा जाता है तो कभी–कभी भाई सोचते हैं– इन छोटे–छोटे प्रत्याख्यानों की क्या आवश्यकता है। इनका क्या महत्व है ? इनका जीवन के साथ क्या संबंध है ? इस दृष्टि से यह जानना भी अपेक्षित है कि वनस्पति की 24 लाख जातियाँ कही गई हैं। 100 से ज्यादा के संभव है, व्यक्ति नाम भी न जानता हो। जरा सोचिये, जिसके पास लाख की संपत्ति भी नहीं, वह कहता है– करोड़ से ज्यादा नहीं रखूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा से क्या लाभ ? ये तो एक प्रकार से त्याग का उपहास है, उसका सही रूप नहीं है। यह सही है कि उसने कहीं पर तो अपनी इच्छाओं को रोका है, कहीं ब्रेक तो लगाया है। तो, इतना ही इनका महत्त्व है परन्तु वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही प्रत्याख्यान लेना महत्वपूर्ण है।

प्रभु महावीर साधना में उतरे, निरन्तर खोज में उतरे, अपने आप को खोज में लगा दिया। आप पूछेंगे, उस समय कौन सी प्रयोगशाला थी, जिसमें प्रभु ने शोध की ? प्रभु महावीर के समय नाम की प्रयोगशाला भले न रही हो पर उन्होंने स्वयं को ही प्रयोगशाला बना लिया था और उसी में वे सभी प्रयोग करते रहे थे। कभी बेले, कभी तेले किये, कभी लम्बी तपस्या की। ऐसे-ऐसे अभिग्रह किए, जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनकी पूर्ति न हुई तब तक परिभ्रमण करते रहे, ये नहीं कि एक जगह बैठ गये। जहाँ पहुँचे, वहाँ ग्राम-नगर में परिभ्रमण किया। मिला न मिला तो भी संतोष के साथ साधना में लीन हो जाते। इसी कारण कठिन व दुरूह अभिग्रह भी पूर्ण हुए। इस स्थिति को गहराई से समझें।

उपवास किया है तो दूसरे दिन पारणा करना है फिर प्रतिज्ञा। नहीं मिले तो फिर शांत भाव से, साधना में लीन हो जाना है। अंतर नहीं आने देना चाहिये। लोग तो जानते नहीं, कि संतों के अभिग्रह है पर उस कारण उतार-चढ़ाव के भाव नहीं आने चाहिये। प्रभु महावीर ने ऐसा ही किया और निरन्तर साधना में रत रहे। उस स्थिति की कल्पना कीजिये- प्रभु ध्यान में खड़े हैं, एक ग्वाला आता है। 'अरे बाबाजी ! यहाँ खड़े हो, तो मैं अपने पशु छोड़कर जा रहा हूँ, रखवाली करना।' ध्यान में हैं ! साधना के क्षण हैं, प्रभु मौन हैं, जवाब नहीं दिया। उसने सोचा- 'मौनं स्वीकृति लक्षणम्', मौन हैं तो 'हाँ' भर ली क्योंकि मौन को स्वीकृति भी माना जाता है। ग्वाला चला गया। थोड़ी देर में लौटा तो पशु नदारद थे। खुले थे अतः धीरे-धीरे आगे खिसक गये थे। ग्वाले ने कहा- महात्मा ध्यान में हैं, पशु इधर-उधर नहीं है। पूछा- बाबाजी ! पशु कहाँ हैं ? प्रभु मौन रहे, कोई जवाब नहीं दिया। उसने देखा- उसकी पलक भी नहीं झपक रही है, शायद देखता भी न हो। जोर से आवाज लगाई- अरे ! बहरे हो क्या ? परन्तु प्रभु आवाज भी कहाँ सुन रहे थे ? उन्होंने कानों को उस ओर लगाया ही नहीं था तो आवाज सुनते कैसे ? आप जानते हैं कि यदि यंत्र को किसी दिशा में गतिशील बनाया जाय तो ही सु-

सकेंगे। कान ही नहीं लगाया तो मालूम कैसे चले क्या बात है। लब्धि है पर उपयोग–रूप स्वीच नहीं दबाया तो परिणाम कैसे उपलब्ध हो ? जैसे स्वीच दबाने से प्रकाश होता है, वैसे ही इन्द्रियों का भी स्वीच होता है। वह नहीं दबाया तो चाहे कितना भी विषय हो पर वे परिणाम नहीं देंगी। उपयोग का स्वीच दबा दिया तो बाहर का जो कुछ है, वह सप्लाई हो जायेगा। जो भी कार्मण–वर्गणा के पुद्गल बाहर हैं, जुड़ेंगे, बंधन प्रक्रिया प्रारंभ होगी, अन्यथा सप्लाई नहीं होगी। हम कोई माल खरीदना चाहें ही नहीं, हमें जरूरत ही नहीं हो, तो कोई जबरन तो नहीं देगा। खरीदने के लिए लगाव होगा तो सौदा होगा और माल खरीदा जायेगा। इन्द्रियों को आगे बढ़ाया, स्वीच दबाया, उपयोग जोड़ा तो वहां आदान होगा। आदान अर्थात् बाहर से वस्तु ग्रहण करने की सक्षमता। इसे आगमिक भाषा में 'आस्रव' की संज्ञा दी गई है। वह द्वार खोल देती है, यही बंध का कारण है। ये अवस्थाएँ जब तक बनी रहेंगी, तब तक अविद्या भी बनी रहेगी। जैसे ही अविद्या से ऊपर उठेंगे, जितने–जितने ऊपर उठेंगे, एक साथ ऊपर उठ जायें यह जरूरी नहीं, उतनी ही अविद्या दूर होगी, उतने ही मायने में कार्मण–वर्गणा ग्रहण नहीं होगी।

संदर्भ प्रभु महावीर का चल रहा था। ग्वाले ने कहा– पर वे सुन कहाँ रहे थे। उन्होंने स्वीच दबाया ही नहीं था तो आस्रव कैसे ग्रहण होगा। आज यदि सुन नहीं पा रहे हैं या बहरे हैं, यंत्र जोड़ लिया तो तत्काल सप्लाई प्रारंभ हो जायेगी। परिरमण तीव्र गति से होगा। ग्लूकोज, जो नस के माध्यम से चढ़ाया जाता है, खून में मिल कर तत्काल प्रक्रिया से खून बन जाता है। पानी का भाग अलग हो जाता है, सार अंश खून में मिल जाता है। उसमें तो फिर भी देर लग सकती है पर बहरे हैं, जैसे ही सुना तत्काल प्रभाव दिखाई देगा, आँख पर, ललाट पर। मुँह से बोलें या नहीं पर बोलने वाला कौन है ? उस की ओर आँखें उठेगी। सामने वाला समर्थ है तो नहीं चलेगी, तो भले न भी बोलें पर कोई निर्बल हो तो उस पर तुरन्त

आज हम जगाने के लिए तैयारी कहाँ कर रहे हैं ? सामायिक पौषध में तैयारी है क्या ? अनादि से जितने जीवन प्राप्त किये, आत्मा ने जितनी नींद ली, उतनी तो शायद कुंभकर्ण को भी नहीं आती थी, उसकी नींद भी छ:माह में खुल जाती थी, पर हमारी ? कितने वर्ष बीत गये ? अर्वसर्पिणी काल, उत्सर्पिणी काल, और कितने काल–चक्र बीत गये ? अनंतानंत पुद्गल परावर्तन बीत गये। किसे कहते हैं पुद्गल परावर्तन ? अनंतानंत काल–चक्र बीत जाते हैं। एक काल चक्र 20 कोड़ा–कोड़ी सागरोपम का होता है। औदारिक आदि वर्गणा का औदारिक आदि रूप में, आहारक को छोड़ कर परिणमन हो। उसके भी बादर व सूक्ष्म रूप में दो भेद हैं। ऐसे अनंत पुद्गल परावर्तन बिताये, फिर भी नींद नहीं उड़ी। नींद उड़ाने की इच्छा भी शायद नहीं है।

'उठो नर–नारियों जागो, जगाने संत आये हैं,
धर्म उपदेश यह प्यारा, सुनाने संत आये हैं।'

अभी तो नींद उड़ाना ठीक नहीं। अभी तो ऐसी लहर है कि और सुला दो तो अच्छा। कोई लोरी गाये और हवा ठंडी हो तो नींद आती है। माताएं बच्चों को हालरिया गाकर सुलाती है, संतों की आवाज भी मंद है। एक बार और गा लें। जगाने के लिए ही धर्म अनुष्ठान हैं। हमारे भीतर सोये संस्कार जाग जाएं, इस हेतु उपाय करें।

एक सेठ था, जिसे चोरों का बहुत डर रहता था– कहीं मेरे घर में चोरी न हो जाय। गाँव में बहुत तंगाई पड़ने लगी तो एक मकान कॉलोनी में बनवाया, सोचा– शिफ्ट होना पड़ेगा। परन्तु कॉलोनी यदि सुनसान है तो भय तो लगेगा। यहाँ तो पड़ोसी भी नये थे, अतः नये घर में रात्रि में डर लगना ही था। सेठ के नये घर में बसने का प्रसंग बना ! मन भयभीत होने लगा। किसी ने कहा आजकल कुत्ते बहुत मिलते हैं, कुत्ता खरीद लो, वह घर में रहेगा तो चोर घर में घुस नहीं सकेगा। सेठ जी बाजार गये। एक हट्टा–कट्टा

मजबूत कुत्ता देखा और खरीद लाये। संयोग से उसी रात चोरी हो गई। सेठ भागा, दुकानदार के पास, बोला— मुझे ठग लिया। मैंने कहा था ऐसा कुत्ता दो जो काम आये। यह कुत्ता तो सोता रहा और चोर चोरी करके भाग गये। दूकानदार ने कहा सेठ जी, ये इतना बड़ा कुत्ता केवल चोर—चोर कहने से नहीं जगेगा। इसे जगाने के लिए छोटे कुत्ते चाहिए, जो इसके पास आकर इसे जगायें। सेठ जी ने छोटे कुत्ते भी खरीद लिये। वैसे ही हमारी आत्मा की तंद्रा टूटी नहीं है। प्रभु ने प्रयोग बताये हैं कि उपवास, बेला—तेला तप—त्याग के छोटे—छोटे श्वान छोड़ दो। ये स्वामी को जगायेंगे। उपवास किया तो, जोरों से भूख लगेगी। यह भूख पहले शरीर पर प्रहार करती है फिर वह मन के पास पहुँचती है। मन तो बड़ा कुत्ता है, वह सोचता है— मैं क्यों जागूँ ? इसलिये मन तक आवाज पहुँचती ही नहीं, जब शरीर चिल्लाता है— चोर आ रहा है, तब मन समझ पाता है कि शरीर के साथ ही उसका अस्तित्व है। यदि शरीर चला गया तो उसका क्या होगा ? इसलिये वह उसे टिकाने के लिए प्रयत्न करता है। फिर मन चेतना को कुरेदने का कार्य करता है और यह कुरेदन जब बढ़ कर प्रभावी बन जाती है तब कहीं जाकर जागरण का प्रसंग बनता है। ये गुर अपनायें।

प्रभु के मन में भाव बने— जिसे मैं जगा नहीं पाया, उसे यह ग्वाला जगा रहा है। क्रिया के बाद प्रतिक्रिया नहीं हुई। प्रतिक्रिया में जाते तो जागरण नहीं होता। आप कहेंगे, जवाब नहीं दिया, परन्तु, यदि जवाब देते तो जागरण नहीं होता। तब आध्यात्मिकता की बात कहाँ होती ?

कहा है— अध्यातम मत पूरण पामी— अध्यात्म की पूर्णता प्राप्त है तो वहाँ प्रतिक्रिया नहीं होगी। चाहे कानों में कीले ठोके, सिर पर अंगारे रखे अथवा पैरों पर खीर पकाये। कर्म, चेतना के साथ जुड़ें हैं। शरीर के साथ उन्हें छोड़ना ही है, इस स्थिति में कोई सहयोगी मिले तो खुशी ही होगी। दर्द का अहसास भी नहीं होगा। जरा विचार

आज हम जगाने के लिए तैयारी कहाँ कर रहे हैं ? सामायिक पौषध में तैयारी है क्या ? अनादि से जितने जीवन प्राप्त किये, आत्मा ने जितनी नींद ली, उतनी तो शायद कुंभकर्ण को भी नहीं आती थी, उसकी नींद भी छःमाह में खुल जाती थी, पर हमारी ? कितने वर्ष बीत गये ? अर्वसर्पिणी काल, उत्सर्पिणी काल, और कितने काल–चक्र बीत गये ? अनंतानंत पुद्‌गल परावर्तन बीत गये। किसे कहते हैं पुद्‌गल परावर्तन ? अनंतानंत काल–चक्र बीत जाते हैं। एक काल चक्र 20 कोड़ा–कोड़ी सागरोपम का होता है। औदारिक आदि वर्गणा का औदारिक आदि रूप में, आहारक को छोड़ कर परिणमन हो। उसके भी बादर व सूक्ष्म रूप में दो भेद हैं। ऐसे अनंत पुद्‌गल परावर्तन बिताये, फिर भी नींद नहीं उड़ी। नींद उड़ाने की इच्छा भी शायद नहीं है।

'उठो नर–नारियों जागो, जगाने संत आये हैं,
धर्म उपदेश यह प्यारा, सुनाने संत आये हैं।'

अभी तो नींद उड़ाना ठीक नहीं। अभी तो ऐसी लहर है कि और सुला दो तो अच्छा। कोई लोरी गाये और हवा ठंडी हो तो नींद आती है। माताएं बच्चों को हालरिया गाकर सुलाती है, संतों की आवाज भी मंद है। एक बार और गा लें। जगाने के लिए ही धर्म अनुष्ठान हैं। हमारे भीतर सोये संस्कार जाग जाएं, इस हेतु उपाय करें।

एक सेठ था, जिसे चोरों का बहुत डर रहता था– कहीं मेरे घर में चोरी न हो जाय। गाँव में बहुत तंगाई पड़ने लगी तो एक मकान कॉलोनी में बनवाया, सोचा– शिफ्ट होना पड़ेगा। परन्तु कॉलोनी यदि सुनसान है तो भय तो लगेगा। यहाँ तो पड़ोसी भी नये थे, अतः नये घर में रात्रि में डर लगना ही था। सेठ के नये घर में बसने का प्रसंग बना ! मन भयभीत होने लगा। किसी ने कहा आजकल कुत्ते बहुत मिलते हैं, कुत्ता खरीद लो, वह घर में रहेगा तो चोर घर में घुस नहीं सकेगा। सेठ जी बाजार गये। एक हट्‌टा–कट्‌ठा

मजबूत कुत्ता देखा और खरीद लाये। संयोग से उसी रात चोरी हो गई। सेठ भागा, दुकानदार के पास, बोला– मुझे ठग लिया। मैंने कहा था ऐसा कुत्ता दो जो काम आये। यह कुत्ता तो सोता रहा और चोर चोरी करके भाग गये। दुकानदार ने कहा सेठ जी, ये इतना बड़ा कुत्ता केवल चोर–चोर कहने से नहीं जगेगा। इसे जगाने के लिए छोटे कुत्ते चाहिए, जो इसके पास आकर इसे जगायें। सेठ जी ने छोटे कुत्ते भी खरीद लिये। वैसे ही हमारी आत्मा की तंद्रा टूटी नहीं है। प्रभु ने प्रयोग बताये है कि उपवास, बेला–तेला तप–त्याग के छोटे–छोटे श्वान छोड़ दो। ये स्वामी को जगायेंगे। उपवास किया तो, जोरों से भूख लगेगी। यह भूख पहले शरीर पर प्रहार करती है फिर वह मन के पास पहुंचती है। मन तो बड़ा कुत्ता है, वह सोचता है– मैं क्यों जागूं ? इसलिये मन तक आवाज पहुंचती ही नहीं, जब शरीर चिल्लाता है– चोर आ रहा है, तब मन समझ पाता है कि शरीर के साथ ही उसका अस्तित्व है। यदि शरीर चला गया तो उसका क्या होगा ? इसलिये वह उसे टिकाने के लिए प्रयत्न करता है। फिर मन चेतना को कुरेदने का कार्य करता है और यह कुरेदन जब बढ़ कर प्रभावी बन जाती है तब कहीं जाकर जागरण का प्रसंग बनता है। ये गुर अपनायें।

प्रभु के मन में भाव बने– जिसे मैं जगा नहीं पाया, उसे यह ग्वाला जगा रहा है। क्रिया के बाद प्रतिक्रिया नहीं हुई। प्रतिक्रिया में जाते तो जागरण नहीं होता। आप कहेंगे, जवाब नहीं दिया, परन्तु, यदि जवाब देते तो जागरण नहीं होता। तब आध्यात्मिकता की बात कहाँ होती ?

कहा है– अध्यातम मत पूरण पागी– अध्यात्म की पूर्णता प्राप्त है तो वहाँ प्रतिक्रिया नहीं होगी। चाहे कानों में कीले ठोके, सिर पर अंगारे रखे अथवा पैरों पर खीर पकाये। कर्म, चेतना के साथ जुड़ें हैं। शरीर के साथ उन्हें छोडना ही है, इस स्थिति में कोई सहयोगी मिले तो खुशी ही होगी। दर्द का अहसास भी नहीं होगा। जरा विचार

करें कि जिस कचरे को हम स्वयं निकालना चाहते हैं, उसे कोई ट्रक में भर कर ले जाये तो खुशी ही होगी, सोचेंगे, चलो मैरे पैसे बचे, अपने आप ही ले गये।

प्रभु कह रहे हैं– देह भिन्न है, मैं भिन्न हूँ। ऐसा विवेक जागृत हो जाय तो यह बोध ही सच्चा जागरण है। उस जागरण में कोई देह को ले जाना चाहे, तो प्रसन्न हों कि ये तो जबरन पकड़ में आया है और कहे, इसे ले जाओ। स्वर्ण को तपाते हैं तो वह रोता नहीं, हँसता है। उसे खुशी होती है कि मुझमें और निखार आ जायेगा।

प्रभु के मन में विचार आता है कि यह उपकारी है, जिसे मैं न जाने कब तक जगा पाता। उसे जगाने में इसने सहूलियत कर दी, मैं जल्दी जग पाया। इसके लिए ही धार्मिक अनुष्ठान हैं। आप सोचेंगे– क्या धर्म केवल मुहँपत्ती में हैं ? नहीं, वह तो मात्र निमित्त है। आर्द्रकुमार ने पहले धार्मिक उपकरण कभी देखे नहीं थे। जब उसे आर्य क्षेत्र में लाया गया, तब उनका उसने उपयोग किया। तदनंतर दर्पण में स्वयं को निहारा, अच्छा लगा। उसमें वैराग्य जागा। समझ लीजिये कि ये उपक्रम आत्मा को जगाने के लिए है। आत्मा जागती रहे तो सम्पत्ति बच जायेगी। जागृति भले ही किसी की भी हो तो वह बेहोशी उड़ा ही देगी।

इसलिये जागो और जगाओ, अविराम गति से बढ़ो ! तपस्या आत्मा को जगाने वाली होती है और विवेक के दीप को प्रज्वलित रखने वाली होती है। इसीलिये भगवान् के पथ पर आगे बढाने में वह बहुत सहयोगी बनती है। जिनका विवेक जागृत नहीं होता और जो अज्ञान के वशीभूत हो जाते हैं, उनके संबंध में उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है– मासे मासे उ जो बाले, कुसग्गेण तु भुंजए ....। इससे कुछ प्राप्त नहीं होगा। देह भिन्नता का बोध नहीं, आत्मा को जगाया नहीं तो कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है। धार्मिक अनुष्ठान मनुष्य को जगाने के लिए होते हैं। सेठ ने जगाने के लिए कुत्ते को

रखा, यह उदाहरण तो एक देसीच है। जब पहले शरीर पर चोट होगी, फिर मन पर और फिर मन आत्मा को जगायेगा, तब जिस आनंद की उपलब्धि होगी, वह अनिर्वचनीय होगा।

आत्मा को जगाना है तो प्रभु द्वारा बताई गई धर्म प्रज्ञप्ति को अपनाइये, तब ही जीवन में कुछ क्रांति घटित होगी। अपने भीतर रहे परमात्म–रूप आत्म देव को जगाने के अनेक आयाम हैं। किसी ने गाली दी सुन लो, प्रतिकार करोगे तो उकसाने का काम होगा। प्रतिकार नहीं करोगे तो वह स्वतः ही ठंडा पड जायेगा। दीवार को गाली दे, वह प्रतिकार नहीं करती। तपस्या के साथ समभाव की साधना हो, यह आवश्यक है। क्रोध आयेगा, रुकेगा नहीं। कभी कहें कि छींक खांसी को रोक ले, तो उन्हें रोका नहीं जा सकता। नहीं रोक पाओगे। क्रोध रुकेगा नहीं, पर उसे फलित मत होने दो। इस प्रकार परमात्म रूप को जगाने के अनेक नुस्खे है। उन्हें आजमाते गये तो चेतना विकसित होती चली जायेगी। आप भी आत्मा को जगाने का प्रयत्न कीजिए। प्रकृति भी परीक्षा लेती है, पर जो मन को अविचलित रखता है, वह शनैः–शनैः तपस्या के क्षेत्र में मासखमण तक पहुँच सकता है। परीक्षा के क्षण में अविचलित रहे, तभी क्रांति घटित होगी। इसलिये यह ध्यान रखें कि यह हमारे मन के साथ जुड़े। छोटे–छोटे त्याग–प्रत्याख्यान स्वीकार करते हुए, यदि हम क्रान्ति पथ पर आगे बढ़ेंगे तो मंगलमय दिशा में अवश्य ही गति कर पायेंगे।

दि. 24–10–96

५. दो कदम सूर्योदय की ओर

इस जीवन–संग्राम में विजय प्राप्ति के दो मार्ग बताये गये हैं। इन दो मार्गों का एक मार्ग भी किया जा सकता है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जब तक दो मार्ग है, तब तक भटकाव है, आत्मा में दुराव है। यदि इन दोनों को मिला कर, एक मार्ग बना लें तो एक मार्ग बनने पर चेतना का उर्ध्वारोहण प्रारंभ हो सकता है। इन दो मार्ग में एक मार्ग– शक्ति का है और दूसरा– भक्ति का। दुनियाँ में बहुत से व्यक्ति शक्ति की आराधना करने वाले हैं, तो बहुत से भक्ति भी करते हैं। जब तक शक्ति की ओर दौड़ है– तब तक व्यक्ति चाहता है कि वह शक्तिशाली बन जाये शरीर से और धन–वैभव आदि अनेक शक्तियों को अर्जित कर ले। दौड़ भले ही इच्छाओं की, मन की, कल्पना की ही हो, व्यक्ति सर्वस्व पाने का इच्छुक बना रहता है। दुनियाँ में जितनी भी प्रकार की शक्तियाँ हैं, उनकी प्राप्ति की दौड़ में वह गिरा है, भटका है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि जब भी शक्ति आती है, वह अपने साथ में द्वंद्व, भटकाव भी लाती है। जब भी शक्ति की आराधना हुई है, युद्ध– संघर्ष और अशांति की स्थितियाँ भी बनीं हैं। क्योंकि शक्ति दूसरों को दबाने में प्रयुक्त होती है। भक्ति उससे ठीक विपरीत मार्ग है। वहाँ लक्ष्य होता है, अपने आप को गौण करना। वहाँ एक तमन्ना होती है– भगवान् को प्राप्त कर लेने की।

इस दृष्टि से श्रेयांसनाथ प्रभु की प्रार्थना विशिष्ट है। वह न शक्ति का प्रतीक है, न भक्ति का। पर इन दोनों को जोड़कर एक ऐसा मार्ग उद्घाटित करती है, जिस पर शक्ति शक्ति का, भक्ति भक्ति का काम करती है। आनन्दघनजी ने दोनों को जोड़ने का काम करते हुए कहा है–

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी, आतमरामी नामी रे ....।

श्रेयांस की व्याख्या में श्रेय का जो अंश है, वह सिद्धि का सोपान है। जो पौरुष को जागृत करती है। जब पौरुष अध्यात्म की या आत्मा की दिशा से जागृत हो, तब उसे भक्ति की दिशा में प्रवाहित कर देना होता है– मुख्य पणे जे आत्मरामी ते पूरण निष्कामी रे ......। फिर न कोई कामना रहती है, न ही कोई चाह। स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर दिया तो फिर वहां यही भाव रहता है कि चाहे तो तारो, चाहे तो मारो, मेरे हाथ कुछ नही है, मेरी कोई कामना नहीं है। ऐसी स्थिति में कामना रह भी नही सकती। जिस प्रकार धनुष पर प्रत्यंचा चढाई जाती है और उस पर बाण। यदि दोनों अलग–अलग पडे रहें तो उनकी कोई उपयोगिता नही होती। पर जब इनके माध्यम से संधान हो जाता है, तब व्यक्ति अपने लक्ष्य को वेध सकता है। ऐसी ही शक्ति व भक्ति की अवस्था है। एक अवस्था में जो शक्ति भटकाने वाली हो सकती है, वह भटकायेगी नहीं। क्योंकि उस पर भक्ति का अंकुश लग जाता है। शक्ति उछाला खायेगी, पर भक्ति के अंकुश से वह स्वछंद नहीं बन पायेगी। कवि ने प्रार्थना करते हुए शक्ति व भक्ति को एकान्त नहीं चाहा, बल्कि चाहा है कि उसके भीतर का पौरुष जागृत हो और श्रेय के अंश को प्राप्त करे। पर उसमें से भक्ति का पुट छूटे नहीं। वह पुट जुड गया तो व्यक्ति भटकेगा नहीं। निरन्तर मंजिल की दिशा में बढेगा। पर हम देख रहे हैं कि यह अवस्था नहीं बन रही है। क्या कारण है ? कारण है कि अविद्या कभी शक्ति पर हावी होती है तो कभी भक्ति पर। डॉक्टर से इलाज करवाना है, औषधी लेनी है तो चार अवस्थाएँ घटित हो सकती हैं–

(1) व्यक्ति रोग को जानता है, दवा लेता है पर पथ्य–पालन नहीं करता है।
(2) रोग जानता है, दवा नहीं लेता पर पथ्य–पालन करता है।
(3) रोग जानता है, दवा लेता है, पथ्य पालन करता है।
(4) रोग को जानता है, दवा लेता है, पथ्य पालन करता है पर रोग असाध्य होने के कारण दवा कारगर नहीं हो

आप रोग को जान रहे हैं। रोग हैं– जन्म, जरा और मृत्यु। आपने वहुत वार सुना है, इसलिए जानते हैं, पर मानते हैं या नहीं ? दोनों बातें अलग–अलग है– जानना और मानना। मैंने कहा और आपने जान लिया परन्तु मानना कब होगा ? तब ही, जब यह मानना अनुभूति से गुजरेगा। भोजन करने बैठे, क्योंकि सुना है कि भोजन करने से पेट भरता है। सुना है तो जान लिया पर वस्तुतः पेट भरता है या नहीं, यह तो भोजन करने पर ही ज्ञात होगा। यह होगा मानना। एक अवस्था है– रोग को जानता है, दवा लेता है पर पथ्य–पालन नहीं। रोग हैं– जन्म, जरा, मृत्यु; दवा है– वीतराग–वाणी। पथ्य है– हिंसा, झूठ, चोरी को टालना, अहिंसा अचौर्य में गति करना; यही पथ्य उपचार हुआ। एक रोग को जानता है, दवा लेता है, पथ्य–पालन नहीं करता तो बीमारी मिटेगी नहीं। एक रोग को जानता है, दवा नहीं लेता अर्थात् वीतराग वाणी का सम्बल नहीं तो रोग ठीक नहीं होगा। उस आचरण का अभाव होने से रोग कैसे घटेगा ? पथ्य–प्रयोग करता है, अतः हो सकता रोग वढ़े नहीं, पर साथ में दवा भी आवश्यक है।

भगवती सूत्र के अनुसार भगवान् से पूछा गया– भगवन् ! क्या केवलज्ञान से मुक्ति हो सकती है ? भगवान् ने कहा– 'णो इणट्ठे समट्ठे', केवल चारित्र से भी मुक्ति नहीं हो सकती। ज्ञान मात्र है परन्तु आचरण नहीं, पथ्य–पालन नहीं तो वह वीमारी से मुक्त नहीं हो सकता। दवा नहीं ले, केवल पथ्य पालन करे तो भी बीमारी दूर नहीं होगी। पथ्य पालन से वीमारी वढ़े नहीं, पर वीमारी है तो वैद्य कहता है– दवा भी लेनी होगी और पथ्य–पालन भी करना होगा। पर यदि रोग असाध्य हो गया तो दवा लगेगी ही नहीं। आप कहेंगे महाराज ! ये क्या वता रहे हैं। एक व्यक्ति जानता है कि उसे जन्म–जरा का रोग है, पर वीमारी असाध्य है। उसे कितना ही उपदेश दो, सुनता है, पथ्य–पालन भी करता है पर वीमारी दूर नहीं होती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से चित्त के जीव ने कहा– हम दोनों पहले

मुनि थे, अब आगे बढ़ो, जन्म, जरा की बीमारी में क्यों जकड़े हो ? वह कहता है— मैं जानता हूँ पर पानी बहुत ऊपर आ चुका है, रोग असाध्य बन गया है। बीमारी अब दूर नहीं हो सकती। चाहे चित्त से वीतराग वाणी की दवा ग्रहण कर लो, पर रोग असाध्य है। दूसरे शब्दों में कहें— अभव्य जीव दवा लेता है, पथ्य—पालन करता है, दूसरों को भी करवाता है पर स्वयं का रोग असाध्य है। 'अभवीपणा' ऐसा परिणाम है, पर्याय है, जिसे छोड़ ही नहीं सकता। अतः मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति उसी की होगी, जो रोग को जानता है। दवाई भी लेता है और पथ्य पालन भी करता है। शक्ति व भक्ति को जोड़ना होगा। ज्ञान और चारित्र का योग हो, दवा और पथ्य का मार्ग एक बने तो 'आत्मारामी' अवस्था प्राप्त होगी और आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश होगा। ऐसा व्यक्ति ही अध्यात्म की पूर्णता की ओर अग्रसर होगा। ऐसा होने पर ही हम स्वयं श्रेयांसनाथ भगवान् की संज्ञा प्राप्त कर पायेंगे। आज व्यक्ति भटकाव में है, क्योंकि वह अधिकांशतः शक्ति—पथ पर चलता है, भक्ति का पुट उसके साथ जोड़ता नहीं। वह सिर्फ जानने तक सीमित रहता है, मानता नहीं है। जैन कुल में जन्म लिया, सामायिक, माला फेरना आदि की महिमा धर्म गुरु से सुनते रहे, पर जैन कुल का गौरव कितना समझा ? लोकमत से भयभीत होकर सामायिक कर लेना, यह तो हुआ जानना, पर सोचें कि आत्म स्वरूप को भी जाना क्या ? पौषध, उपवास को जाना नहीं पर मानकर उन्हें कर रहे हो। श्रद्धा की दृष्टि से ये लाभप्रद है। बीमारी आगे न बढ़ पाये, यह अच्छी बात है। पर उसे दूर करने में एकान्त रूप से सक्षम न बनें, दवा और पथ्य का समन्वय न करें तो क्या उद्देश्य पूरा होगा ? पथ्य है— सामायिक, और वह होती है— आत्मा से। पोशाक से द्रव्य सामायिक है; पर भाव सामायिक है— प्रत्येक आत्मा को आत्मवत् मानना, चाहे वह त्रस हो या स्थावर। प्रत्येक आत्मा के प्रति करुणा भाव निर्झरित हो, समभाव का व्यवहार हो तब वह होती है— भाव सामायिक। द्रव्य सामायिक, भाव को साधने के लिए है। पूरे दिन ऐसे भाव न रहें तो कम से कम 48 मिनट

तो उन भावों का जमाव हो। यदि वह भाव ग्रहण कर लिया गया तो फिर 24 घंटों में वह रंग उड़ नहीं सकता। विचार निरन्तर बने रहेंगे। 48 मिनट की सामायिक पूरे दिन एवं जीवन भर को प्रभावी बनाये रखेगी। तब सामायिक का ज्ञान होगा। साथ ही पथ्य को भी जानकर अमल में लाते रहें तो, वह आत्मा को अध्यात्म की दिशा में बढ़ाने वाला हो सकता है।

शक्ति का उपासक तलवार को ही चाहता है। शक्ति सदा युद्ध क्षेत्र में अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करना चाहती है। चाहे वह युद्ध तलवारों का हो, विचारों का हो या वचनों का हो। शक्ति प्रतिस्पर्धा करती है। कौन किसे गिराये, किसे पछाड़ कर स्वयं आगे बढ़े ? यह है– शक्ति का कार्य। परन्तु व्यक्ति शांत अवस्था में पहुँचे तब ही उसमें विचार प्रादुर्भूत होते हैं। हम जानते हैं कि जहाँ समस्या है, वहाँ समाधान भी है। बीमारी असाध्य है, भले दूर न हो फिर भी व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं छोड़ता। क्योंकि वह यह नहीं चाहता कि असाध्य रोग बढ़कर समय से पूर्व ही जीवन समाप्त कर दे। शक्ति तोड़ने का काम करती है और भक्ति जोड़ने का। दोनों का समन्वय करलें तो व्यक्ति कर्मों से अलग हो सकता है। परन्तु वह ऐसा करे कैसे ? अध्यात्म के धरातल पर शुभ अध्यवसायों से जितने भी तीक्ष्ण रस हैं, उनका घात करके। स्थिति घात करके वह गुण श्रेणी प्राप्त कर सकता है। जितने कर्मों को जिस क्षण, अलग करेगा, उतने अंशों में भक्ति का प्रादुर्भाव होगा। भक्ति का यह पुट जुड़ कर उसे अध्यात्म की दिशा में परमात्मा की ओर बढ़ायेगा। हमें कण–कण जोड़ना है।

एक भाई ने प्रश्न किया कि धर्म जोड़ता है या तोड़ता है ? मैंने कहा– धर्म तोड़ता भी है, जोड़ता भी है। वह विचार करने लगा। आज तक सुना है– धर्म जोड़ता है, परन्तु यह भी सत्य है कि जितने भी वैभाविक भाव हैं, राग–द्वेष हैं, धर्म उन्हें तोड़ता है, अलग करता है और आत्मा को स्वभाव से, ज्ञान से, भक्ति से जोड़ता है। ये दोनों काम धर्म करता है। जीवन को आबाद करने में, जोड़ने में, भक्ति

काम आती है। तोड़ने में गिराने में, शक्ति। बुल्डोजर गिराने वाले हो सकते हैं। सिर्फ मजदूर मकान नहीं बना सकते, बनाये भी तो हो सकता है कि वह गिर जाये। मकान बनाने के लिए मजदूरों के साथ समझदार कारीगर भी चाहिये। मजदूर सोचे– कारीगर की क्या जरूरत ? वह तो केवल धागा लगाकर पत्थर जोड़ेगा, और बैठा रहेगा। काम तो हमें करना होगा। इसलिए अच्छा है कि हम मजदूर ही मकान बना लें। पर ऐसे मकान की बुनियाद मजबूत नहीं होगी। बुनियाद केवल रेत की बना ली तो भी वह मकान ढह जायेगा। मकान खड़ा करने के लिए चाहिए, मेहनत। अनेक मजदूर मिल जायें, पर एक भी कारीगर न हो तो जैसा चाहिए, वैसा मकान वे खड़ा नहीं कर सकते। कारीगर की जरूरत होती ही है। बुल्डोजर की शक्ति गिराने का काम कर सकती है। निर्माण के लिए श्रम अपेक्षित होता है। जिसने आबाद किया है, बरबादी के दुःख को वही जान पाता है। जिसने आबाद नहीं किया, वह क्या जाने कैसे आबाद किया जाता है। केवल शक्ति का पथ विध्वंस करने वाला होता है। आज हमारे सामने दोनों मार्ग हैं– शक्ति का और भक्ति का। कवि कह रहे हैं कि ये दोनों मार्ग आगे जाकर एक वीतराग पथ का निर्देश करते हैं। दोनों मार्गों का समन्वय करके चलें तो उस अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है, जिसे श्रेयांसनाथ भगवान् ने प्राप्त कर लिया। उन्होंने अध्यात्म की पूर्णता प्राप्त कर ली। दोनों मार्ग जुड़े तो पूर्णता की ओर बढ़ गये, केवलज्ञानी बन गये। अध्यात्म की सीढ़ी को प्राप्त कर वीतराग अवस्था को प्राप्त हो गये। फिर अविद्या को छिन्न–भिन्न कर दिया तो जैसे कोहरा या बादल गहरे छा जायें, पर ज्यों ही सूर्य निकलता है, अंधकार समाप्त हो जाता है, और कोहरे के बादल तितर–बितर हो जाते हैं। सूर्य एकाएक न भी निकल पाये पर हवा का झोंका ही चले तो वह भी उन्हें बिखेर देता है। सूर्योदय तब होगा, जब दोनों मार्गों का समन्वय होगा और तब ही आत्मा, अध्यात्म की पूर्णता को प्राप्त कर पायेगी।

दि. 25-10-96

६. निज स्वरूप को साधने का मार्ग

सक्रियता चेतना का प्रमुख लक्षण है और चेतन सक्रिय रहता है, निरन्तर क्रिया करता रहता है। पर वह स्वयं के लिए कौन सी क्रिया करता है और कौन सी क्रिया चार गति को साधने के लिए करता है, इसका ज्ञान भी आवश्यक है। जब तक इनका अन्तर ज्ञात नहीं अथवा बोध नहीं, वह अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पायेगा। कहा भी गया है–

निज स्वरूप ते किरिया साधे, तेने अध्यात्म कहिये रे।

जो क्रिया निज स्वरूप को साधे, उसका ही महत्व है। इस दृष्टि से युक्ति और मुक्ति इन दो शब्दों के भाव समझ लें। एक व्यक्ति युक्ति के बल पर बढ़ता है और एक मुक्ति की दिशा में बढ़ता है। युक्ति का तात्पर्य है– तर्क। तर्क पर चलना बुरी बात नहीं है। जिज्ञासा हो तो तर्क होना चाहिये, पर जो मुक्ति को छोड़ युक्ति में पड़े, वह तर्क कारगर नहीं हो सकता। तर्क आत्म साधना में सहयोगी नहीं है। तर्क करते–करते हम इतने विभ्रम में पड़ जाते हैं कि मूल से दूर हो जाते हैं। व्यक्ति परछाई के पीछे दौड़ता है और छाया को ही सब कुछ मान कर मूल को भूल जाता है। व्यापारी वर्ग कभी कहता है– मूल से ब्याज प्यारा होता है, पर मूल नहीं तो ब्याज कहाँ से आयेगा ? ऐसे चिन्तन के कारण कभी–कभी ब्याज के पीछे वह मूल को भी खो देता है। यथार्थ को तर्क नकार सकता है। जबकि यदि यथार्थ को जानना–मानना है तो तर्क की आवश्यकता हो सकती है पर ऐसी आवश्यकता होनी चाहिये, पूरक। उसे घातक नहीं होना चाहिये ।

मुक्ति का मार्ग क्या है ? श्रेयांस भगवान् की प्रार्थना में

अध्यात्म की पूर्णता या निज स्वरूप की प्राप्ति को मुक्ति कहा गया है। विचारणीय यह है कि अपने स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो ?

एक महात्मा घुमक्कड़ थे। घूमते हुए एक स्थान पर पहुँचे। संध्या का समय था, गाँव दूर था। गाँव के बाहर एक छोटा सा मकान दिखाई दिया। महात्मा ने सोचा– रात्रि बितानी ही है, क्यों न यहीं विश्राम कर लूं। महात्मा ने मकान मालिक से पूछा– रात बितानी है, जगह मिल सकती है ? गाँव के लोग स्वाभाविक रूप से अतिथि सत्कार में तत्पर रहते हैं। महात्मा को देख कर मकान मालिक कहने लगा– विश्राम करें, घर पवित्र होगा। वैसे भी आगमों में उस गाँव, नगर, पुर, पाटन को धन्य कहा गया है, जहाँ तीर्थंकरों का अथवा भव्यात्मा अणगारों का विचरण–विराजना होता है। वह व्यक्ति भले ही आगमिक परिभाषा न जानता हो पर स्वाभाविक रूप से अतिथि–सत्कार की भावना से उसने महात्मा के अनुरूप स्थान उन्हें दिया। महात्मा ने घर की हालत देखी तो दुःखी हुए। जब वे जाने लगे तो किसान से कहा– तुम यहाँ कहाँ पडे हो ? मैंने ऐसी जगह देखी है, जहाँ रत्न ही रत्न हैं। वहाँ से एक–दो रत्न ले लिये जायें तो जीवन में इतना परिवर्तन होगा कि ऐसे मकान में निवास करना पसन्द ही नहीं करोगे। स्वाभाविक ही है कि यदि छाया मिल जाये तो मूल की कैसी भी स्थिति हो व्यक्ति छाया को ही ग्रहण करता है। पैसा आया कि सोचने लगता है अब तो मकान बनाना है, इस छोटे से घर में कैसे गुजारा हो ! इतने समय गुजारा हुआ या नहीं ? पर जैसे ही पॉकेट गरम हुई कि चिन्तन बदल गया। इस लक्ष्मी के पैर चंचल होते हैं, उड़ती हुई आती है। जैसे मारवाड़ में देखेंगे कि अभी तक तो कुछ नहीं था और थोड़ी देर में आँधी आई, रेत बरसाने लगी और सब तरफ रेत ही रेत हो गई। वह भी चंचला है। आंधी हो कर आती है और कब उड़ जाती है पता ही नहीं चलता, जैसे कपूर की टिकिया, कब उड़ जाती है, पता ही नहीं लगता। लक्ष्मी को किसी ने बांधकर रखा है क्या ? कवि आनन्दघनजी कह गये हैं– चरण कमल कमला बसे रे ....।

भागवत और वैदिक साहित्य में बताया गया है कि शेष नाग पर विष्णु भगवान सोये हुए हैं और लक्ष्मी उनके पैर चाँप रही है। परमात्मा के चरणों में लक्ष्मी का वास है। यदि हम परमात्मा को हिये में बिठा लें तो लक्ष्मी का वास भी वहाँ हो जायेगा। लक्ष्मी दूर नहीं रहेगी। लेकिन लोग परमात्मा को पाना नहीं चाहते, चाहते हैं– लक्ष्मी को। लक्ष्मी दौड़ती आती है, थोड़ी देर मनोरंजन कराके उड़ जाती है। इसलिए कहते हैं–

सत मत छोड़ो हो नरां, लक्ष्मी चौगुनी होय।
सुख दुःख रेखा कर्म की, टाली टले न कोय।।

सत् अर्थात् सत्य, मत छोड़ो। सत्य को छोड़ा तो लक्ष्मी आयेगी नहीं। सत्य को नहीं छोड़ा, खूंटा पकड़ लिया तो वह उसके इर्द–गिर्द घूमेगी, जायेगी नहीं। सुख–दुःख रेखा कर्म की– यदि सोचें– इतने समय तक धर्म को पकड़ा पर अभी तक काम नहीं आया, पर यदि सत्य को छोड़ दिया तो छाया भी लुप्त हो जायेगी। तुम देखते रह जाओगे। महात्मा ने उस पटेल को बताया कि गोलकुंडा की धरती पर रत्न हैं। पटेल ने सोचा– जाऊँ, ले आऊँ। जाऊँ पर मार्ग के लिए साधन तो चाहिये। उसके पास एक छोटा सा खेत था, उसने वह खेत बेच दिया, और इस प्रकार जो पैसे इकट्ठे हुए वह लेकर चल पड़ा, रत्न की खोज में। सोचा– महात्मा ने वह धरती देखी है तो वे जिस डगर से आये थे, उसी पर बढ़ता चलूँ, कहीं न कहीं तो वह धरती मिलेगी। वह बहुत समय तक घूमता रहा। खेत बेचकर जो रकम प्राप्त हुई थी, वह भी खत्म होने लगी। बढ़ोतरी नहीं हो और निरन्तर पानी निकलता रहे तो टंकी का पानी भी समाप्त हो जाता है। समुद्र तो खाली नहीं होता पर टंकी तो खाली होगी ही। क्योंकि उसमें और पानी आने का स्रोत नहीं होता। समुद्र में तो पानी आने के स्रोत होते हैं। ताप से उड़े भी तो समुद्र चिन्तित नहीं होता– त उड़ गया तो क्या ? आने के स्रोत भी तो अनेक हैं। खर्च भी हो रहा है तो चिन्ता नहीं। पर यदि आमदनी का स्रोत नहीं हो, और

खर्च होता रहे तो चिन्ता होती है। पटेल को भी चिन्ता होने लगी। वर्ष बीत गए, चारों ओर घूमा लेकिन वह धरती ध्यान में नहीं आई। मन उदास हो गया, क्या करूं ? मन में सोचा– जब निकला था, तब जानता नहीं था कि रत्न किसे कहते हैं, कैसे होते हैं ? महात्मा ने जो कुछ कहा उस पर विश्वास कर मैं सहज भाव से निकल आया। रत्न कैसे होते हैं देखू तो सही। रत्न को जाने बिना मैं उस धरती को पहचानूंगा कैसे ?

आप जानते हैं कि रत्न कीमती होते हैं। वैसे देखो तो कोई कीमत नहीं है। कीमत तो मनुष्य ने पैदा कर दी है। मनुष्य नहीं तो रत्न की क्या कीमत ? मनुष्य नहीं तो रत्न ठोकरें खायेंगे। पशु के लिए तो पत्थर–रत्न सब बराबर ही हैं। मनुष्य ने कीमत कर दी, एक को माथे पर चढा लिया। दूसरे को पैरों में डाल दिया। यह मनुष्य की करामात है। करामात कहें या खुराफात। उसने गुणवत्ता की बात कह दी–यह वैदुर्य है, यह नीलम है, यह चिन्तामणि, यह अन्य कोई। शास्त्रों में कई मणियों के नाम हैं। आज भी अनेक प्रकार उपलब्ध हैं। एक–एक रत्न लाखों की कीमत का होता है। वह किसान जिसने रत्न जाना ही नहीं था, उसके सामने पत्थर हो या रत्न, दोनों समान ही थे। घूम–घूमकर उसने कई जौहरियों से रत्नों की पहचान की। काफी घूम लिया था, खर्च खुट गया था, अतः निराश होकर घर लौटा। घर आते ही उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, उसे आँखों पर विश्वास नहीं हुआ, ये क्या तमाशा है ! मैं कहाॅ भटकता रहा। पर मेरे घर में ही रत्न हैं। घर में उसका बालक एक पत्थर से खेल रहा था। अब तक उसकी कोई कीमन नहीं थी। अब जब पहचाना तो कीमत हो गई। अब पश्चाताप करने लगा– ये पत्थर तो मेरे खेत के थे, जिन्हें मैंने बेच दिया ! थोड़े से पैसों में खेत बेच दिया ! इतिहास बता रहा है कि नदी के पास का वह खेत रत्नों की खान था। हैदराबाद के निजाम ने गोलकुण्डा से रत्न निकाले। गरीब पहचान नहीं पाया, बेच दिये। घटना चाहे जिस रूप में हो, पर सत्य यह है कि जब तक पहचान नहीं होती, हम बाहर दौड़ते रहते हैं। हम नहीं

सोचते कि दौड का अन्त कहाँ होगा ? दो क्षण भी सोचने को अवकाश नहीं कि यात्रा में कहाँ जाना है, यहीं बैठे रहना है क्या ?

अरे सोच जरा इन्सान, कठा सूं आयो है तूं आयो है,
अठे रहणो है दिन चार, अठा सूं जाणो है थने जाणो है।

किसको जाना है, किसको रुकना है, यह भी किसे ज्ञात है ? निश्चित रूप से संतों को जाना होता है, उन्हें विहार करना ही होता है परन्तु सोचें कि क्या आप को सदा उस मकान में रहना है, जिसमें आप आज रह रहे हैं ? तथ्य तो यह है कि जिस मकान में आज आप रहते हैं, वहाँ पहले कोई और रहता था, जो अब नहीं है। बंगले बनाने वाले चले गये, उनकी छाया पड़ी है। वे प्रस्थान कर गये। संत–फकीरों ने तो इस दुनियाँ को ही सराय कह दिया है। इस संबंध में एक दृष्टांत भी हैं– एक फकीर ने किसी राजा के महल में जाकर डेरा डाल दिया। कर्मचारियों ने उसे बहुत समझाया कि वह किसी सराय में चला जाये परन्तु वह न हटने की जिद पर अड़ा रहा। बात राजा तक पहुँची। राजा ने सोचा कि देखें क्या मामला है। वह फकीर के पास पहुँचा और किसी सराय में उसके लिये व्यवस्या करने का आश्वासन उसे देने लगा। पर फकीर अपनी ज़िद पर अड़ा हुआ था– "यह भी तो सराय है।" जब राजा ने पूछा कि मेरा यह महल सराय कैसे हुआ, तो फकीर ने कहा– "महाराज, आप तो आज रह रहे हो, आप से पहले यहाँ कौन लोग रहते थे और आपके बाद कौन लोग रहेंगे ?" राजा को क्रोध तो बहुत आया परन्तु अवसर देख कर [illegible] शान्त रहा और उत्तर दिया– मुझसे पहले इसमें मेरे पिताजी रहते थे, उनसे पहले उनके पिताजी, उनके पिताजी से पूर्व उनके पिताजी, [illegible] पिता–पितामहों की यह शृंखला काफी लम्बी है और मेरे बाद मेरे पुत्र और पौत्र–प्रपौत्र आदि यहाँ रहेंगे।" फकीर ने तुरन्त कहा– [illegible] जिस मकान में रहने वाले आते–जाते रहते हों, कोई स्थायी [illegible] न रहता हो, वह सराय ही तो हुआ, उसे किसी एक का [illegible] ? दृष्टांत अपनी जगह पर है परन्तु यह जान

लें कि मकान अलग होता है, रहने वाला अलग। आप मकान की सार संभाल करते हैं, करनी भी चाहिए। सार संभाल नहीं करेंगे तो वह ढह जायेगा। यह ठीक नहीं होगा। जब तक रहते हो सार–संभाल होनी चाहिए ताकि रहने वाला सुरक्षित रहे पर ये भेद–ज्ञान रहे कि मैं भिन्न हूं, यह भिन्न है। फिर जो क्रिया होगी, वह होगी निज स्वरूप को साधने वाली।

निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेहने अध्यातम कहिए रे।

अनादि काल से प्राणी क्रिया कर रहा है पर किनारा नहीं मिला। पर जब कुछ बोध हुआ, आंख खुली तो देखा अब तक अंधकार में था, आँखें देख नहीं पाईं। अब प्रकाश को देखा है तो वह अवस्था नहीं रहेगी। वह प्रकाश को चाहता है, क्योंकि उसमें बहुत कुछ देखा जा सकता है। वह प्रकाश को छोड़ना नहीं चाहता। आप कहेंगे हम तो बाहर बहुत प्रकाश देख रहे हैं, पर वास्तव में वह प्रकाश नहीं अँधेरा है। जिसे देखना है, उसे नहीं देख रहे हो। भगवान् ने बात कही है–

'जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ' (आचारांग सूत्र)

जो अध्यात्म को देखता है, वह बाहर भी देखता है। मैं युक्ति और मुक्ति की बात कह रहा था। बाहर की चीजों में आप युक्ति लगायेंगे पर भीतर का प्रकाश बाहर के पदार्थ से मुक्ति बिना नहीं मिलेगा। भीतर का प्रकाश प्राप्त नहीं तो वह बाहर का प्रकाश छोड़ नहीं पायेगा। क्योंकि आधार क्या है ? भीतर के प्रकाश का आधार मिल गया तो आप बाहर के आधार को छोड़ [illegible]। जो आत्मा को जानता है, वह बाहर को जानता है, [illegible] भांति नहीं है। परन्तु क्या जो बाहर को जानता है, [illegible] को भी जानता है? आप बाहर तो जानते हैं पर क्या [illegible] को भी जानते हैं [illegible] कैसा ? बाहर को पूर्ण रूप से [illegible] भी संभव [illegible] दूर की बात तो छोड़ो, क्या [illegible] को भी पूरा [illegible]

सोचेंगे, शरीर से क्या लेना–देना, यह तो छाया है, इसकी क्यों चिन्ता करें ! चलो, छाया का ज्ञान तो हो गया। फिर भी छाया को पकड़ते हो या नहीं ? यह ज्ञान कि मूल बिना छाया नहीं। छाया है तो इसका मतलब है, कहीं न कहीं मूल है। छाया पकड़ कर मूल तक पहुँचे तो वलिहारी है।

अशुचि भावना की बात आपने सुनी होगी, उसमें क्या होता है ? शरीर पर चिन्तन। अहो ! यह शरीर अशुचि से भरा है, उसमें से दुर्गन्ध निकलती है, इसलिए कान में इत्र या सेंट रूई में रख लेते हो ताकि खुशबू आती रहे। भीतर कितना गटर भरा है, आंतें कितनी लम्बी चौडी हैं, आंतों के माध्यम से कितनी गंदगी बहती रहती है ! जो भी सार भाग आहार पर्याप्ति तैयार करती है, वह भीतर सप्लाई हो जाता है। शेष कच्चा माल बाहर पहुँचा दिया जाता है। जैसे फैक्ट्री के समान पूरी कार्य–विधि हो। कभी देखा होगा– गन्ना पीलने की मशीन से खल व रस भाग अलग–अलग हो जाता है। वैसे ही शरीर से अतिरिक्त भाग गटर से निकाल दिया जाता है। ऊपर चमडी ढकी है, इसलिए ध्यान नहीं जाता। कभी खोल कर देखा ? डॉक्टर ऑपरेशन करते हैं वह यदि आप सहसा देख लें तो घिग्घी वध जायेगी। कोई कच्चे दिल वाला हुआ तो बेहोश हो जायेगा। इसलिए ऑपरेशन थियेटर मैं किसी को आने नहीं दिया जाता। अन्य कारण भी हैं पर यह भी एक प्रमुख कारण है। विद्यार्थी को भी पहले कांच लगाकर वाहर से ही दिखाया जाता है।

शरीर को जानें, नहीं तो अशुचि भावना भी नहीं जान पाओगे। शरीर रचना का ज्ञान हो– कितनी संधियाँ हैं, कितने अवयव हैं, कितनी कोशिकाएँ हैं ? हजारों कोशिकाएँ निर्मित होती हैं और समाप्त होती हैं। कितने सेल्स निर्मित होते हैं ? जैसे टॉर्च के लिए सेल की आवश्यकता होती है, वैसे ही शरीर चलाने के लिए भी अनेक सेल्स आवश्यक होते हैं। आयुर्वेद की भाषा में कोशिका कह दें। उनका निर्माण होता है तो ही शरीर के आगे की प्रक्रियाएँ सम्पन्न

होती हैं। जब आप शरीर को ही पूरा नहीं जानते तो आत्मा को जानने की बात ही कहां आती है ? यदि शरीर को पूरा जानें तो आत्मा को भी जान सकते हैं। मुक्ति को पूर्ण रूप से तभी समझ पाएंगे, जब मुक्ति–पथ को ध्यान में रखें। ये ध्यान रहे तो तर्क भी वहाँ पहुंच जायेगा, जहां मुक्ति का द्वार उद्‌घाटित होता है। वह जिज्ञासा–युक्त तर्क मंजिल पर पहुंचायेगा। पर केवल तर्क में ही रहे तो मूल छूट जायेगा। छाया पकड़ में आएगी नहीं। आध्यात्मिक अनुष्ठान द्रव्य रूप से है तो ये छाया है, भाव रूप से हो तब वह मूल को पकड़ने की बात बनेगी।

मूल होने पर ही छाया मिलेगी। रावण ने छाया को पकड़ा, मूल को नहीं, तो छाया उसकी नहीं बनी। यदि वह राम को अतिथि बना कर आमंत्रित करता तो साथ में सीता भी आती। सत्य है तो लक्ष्मी भी आयेगी। सत्य नहीं तो छाया को भी नहीं पकड़ पाओगे। छाया में घुल गए तो वह हाथ से निकल जायेगी, तुम देखते रह जाओगे। सत्य को छोड़ दिया तो चापलूसों के चक्कर में पड़ कर हालत विचित्र हो जायेगी। पूज्य गुरुदेव एक उदाहरण दिया करते हैं– एक राजा को मांस–शराब आदि का व्यसन हो गया। ऐशो, आराम, सुरा–सुंदरी के चक्कर में पड़ गया। सोचिये उनकी क्या दशा होगी ? धरती धरा बदलती है। सुरा–सुन्दरी का वास और लक्ष्मी का संयोग हो तो हालत दयनीय हो जाती है। राजा की चारों ओर निन्दा होने लगी– कैसा राजा है, जनता की भलाई की बात नहीं सोचता, रात–दिन नृत्य गान, काम–क्रीड़ा में मशगूल रहता है। बदनामी राजा के कानों में भी पहुँची। अभी थोड़ा सा लज्जा का अंश बाकी था। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है– 'लज्जा दया संजम बंभचेरं' यदि ब्रह्मचर्य चला गया, संयम चला गया, लेकिन दया है तो बचाव संभव है। दया भी चली गई पर लज्जा ठिकाने है तो बचा जा सकता है। दया, संयम, ब्रह्मचर्य चले गये पर लज्जा भी नहीं रही तो परमात्मा भी नहीं बचा सकता। लज्जा है तो सारे गुण लौट... सकते हैं अन्यथा कितना ही दया, संयम, ब्रह्मचर्य का ढों... लज्जा

बिना कुछ भी नहीं टिक सकता। अधम पाप के प्रति यदि लज्जा हो तो वह कभी संयम नहीं छोड़ पायेगा, ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रख पायेगा। मूल गुण चाहिए, 'लज्जा। लज्जा है तो सब कुछ बचाया जा सकता है। राजा में भी लज्जा शेष थी। उसने अनुभव किया कि ऐसी जीवनचर्या ठीक नहीं हैं। यदि अपयश फैलता रहा तो एक दिन जनता विद्रोह कर देगी। सोचा कोई उपाय करना चाहिए। उसने एक सर्व धर्म सम्मेलन बुलाया ताकि लोग कहें कि राजा धर्मात्मा है। उसने लोगों के सामने स्वीकार किया— मेरी कुछ बुरी आदतें पड़ गई हैं। माँस और शराब का सेवन करने वाले के विषय में धर्म ग्रन्थ क्या कहते हैं ? कोई उपाय हो तो बताइये ताकि मैं दुःख से बच सकूं। जो यथार्थ में धर्म गुरु थे, कहने लगे— ऐसा व्यक्ति नरक की यातना प्राप्त करता है। ऐसे क्रूर अध्यवसायों में आयु बंध हुआ तो नरक प्राप्त होगी। ध्यान रखने की बात है कि महाआरंभ, महापरिग्रह नरक के द्वार हैं। आज भाई कहते हैं— आनंद श्रावक के पास सम्पत्ति नहीं थी क्या ? पैसा था पर मूर्च्छा नहीं थी। एक के पास छदाम नहीं पर मूर्च्छा है, आपको जीना है तो, ट्रस्टी बन कर जीओ, मालिक बन कर नहीं। देख–रेख करने वाला कैसे जीता है ? यदि ऐसे भाव हैं तो आरंभ–परिग्रह से बचा जा सकता है।

अहो समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अंतर्गत, न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल।।

पैसा नहीं पर चिपक गये, फैलाव कर दिया तो जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा। राजा से धर्म गुरुओं ने यही कहा। पर एक पंडित ने कहा— राजन् आप सभा विसर्जित कर दीजिये, मैं एकान्त में बात करूंगा। आप नरक से बच सकते हैं, आप प्रतिदिन एक घंटा धर्मग्रन्थ सुनिए। इससे आपका अपयश भी नहीं होगा, और नरक से भी बच जायेंगे। राजा ने कहा— मैं तो पढ़ नहीं सकता। पंड़ित ने कहा— मैं सुना दूंगा, लोग कहेंगे, राजा धर्मात्मा है। प्रतिदिन धर्मग्रंथ सुनना बस, बात तय हो गई। पंडित रोज आने लगा। वह मनमाने अर्थ से राजा को रिझाने लगा। लोगों में बात

फैल गई– राजा धर्म ग्रन्थ सुनते हैं। पंडित जी को भी लाभ था। प्रतिदिन एक मोहर मिल जाती थी।

हम जानते हैं कि छाया सत्य के साथ ही रहती है। एक दिन पंडित जी नाई के यहाँ हजामत बनवाने गये। नाई ने पूछा– धर्मग्रन्थ सुनाने के बदले में राजा से तुम्हें क्या मिलता है ? पंडित ने कहा– एक स्वर्ण मोहर। नाई ने कहा– मैं भी हजामत बनाने की एक मोहर लूंगा। मुझे भी इस कार्य में एक घंटे का समय लगता है। पर मैं यह मोहर किसी दिन ले लूँगा। एक दिन नाई ने राजा से कहा– यह पंडित आपसे घृणा करता है। राजा ने पूछा क्या प्रमाण है ? नाई ने कहा– वह आपके पास आता है, तब नाक पर कपडा बांध लेता है। विश्वास न हो तो परीक्षा कर लें। दूसरे दिन राजा ने देखा, सचमुच पंडित ने नाक पर कपड़ा बांध रखा था। राजा ने एक पर्ची काट दी। पंडित जी बाहर निकल रहे थे, इधर नाई पहुँच गया। आज की कमाई उसने मांग ली। भंडारी ने भुगतान कर दिया। दूसरे दिन पंडितजी पहुँचे। राजा को आश्चर्य हुआ, पूछा तुमने कल वेतन लिया नहीं क्या ? पंडितजी ने कहा ले लिया। भंडारी को बुलाया गया। उसने सारी बात कह सुनाई। नाई को बुलाया गया। ज्ञात हुआ, राजा ने नाक काटने की आज्ञा दी थी और वह लागू हो गई नाई पर। पंडित ने अपनी बात स्पष्ट कर दी– राजन् ! मैं घृणा से नहीं, किन्तु धर्म ग्रन्थ पढ़ने के लिए नाक पर कपड़ा बांधता हूँ। राजा संतुष्ट हुआ। इस उदाहरण से समझें कि चापलूस अपने मनमाने अर्थ करके भोले व्यक्तियों को कैसे ठगते हैं ? अतः सत्य को पहचानें।

हम श्रेयांसनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हैं और निज स्वरूप को साधने की भावना रखते हैं। निज स्वरूप को साधने की क्रिया ही यथार्थ में अध्यात्म है। चार गति को साधने वाली क्रिया लाभप्रद नहीं है। वह संसार से, भव–परम्परा से जोड़ेगी, अतः वह मुक्ति के लिए फलप्रद नहीं है। यह सुनहरा अवसर है, वीतराग वाणी का योग है, निज स्वरूप को साधने का प्रयत्न करें तो मुक्ति पथ पर बढ़ते हुए अविचल मंगलमय स्थान को प्राप्त कर पायेंगे।

दि. 26–10–96

७. आध्यात्मिक जीवन का स्वरूप

प्रभु महावीर ने दुःख के मूल कारण की ओर ध्यान दिया। इस हेतु उन्होंने जन–जन की दुःख विषयक चेतना का अनुभव किया और इस दिशा में खोज की। मनुष्य या प्राणी इतने दुःखी क्यों हैं ? उन्होंने इस संबंध में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर दुःख के मूल कारण को ढूँढ निकाला और प्राणियों के हितार्थ आह्वान करते हुए कहा– यदि तू दुःख से बचना चाहता है, अपने स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है तो जब तक तू बाहर झांकता रहेगा, बाहर ही तेरी प्रवृत्ति रहेगी, तब तक तू दुःखी ही रहेगा। जब तक तेरी क्रियाओं की दिशा नहीं बदलेगी, दुःख नहीं छूटेगा। कवि आनन्दघनजी की प्रार्थना में भी ये ही भाव मुखरित है–

निज स्वरूप ते किरिया साधे, तेहने अध्यात्म कहिए रे।

अध्यात्म का स्वरूप क्या है ? 'आत्मनि वर्तते इति अध्यात्म'। अध्यात्म के भिन्न–भिन्न भेद भी किये गये हैं– नाम अध्यात्म, ठवणा अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म और भाव अध्यात्म। वैसे भी 'आध्यात्मिक बहुत प्रिय शब्द है, क्योंकि वह आत्मा के निकट का है। जैसे ही अध्यात्म शब्द आया, आत्मा आकृष्ट होगा। उसे कुछ लगाव अनुभव होगा। क्योंकि जो अपना होता है, जिसे आप अपना मान कर चलते हैं, उसके प्रति सहज लगाव होता ही है। कवि कहते हैं– तुम केवल अध्यात्म और आध्यात्मिक नाम से ही परिचित हो, तुम्हारा ज्ञान मात्र सतही है, इसलिये अपने को ठग मत लेना। किसी पदार्थ या व्यक्ति का नाम अध्यात्म रख दिया तो क्या वह आध्यात्मिक बन जाता है ? किसी का नाम महावीर रख दिया तो नाम रखने मात्र से तो वह महावीर नहीं हो जोयगा। बहुत से व्यक्तियों के नाम महावीर होते हैं

पर वे छोटे से चूहे से भी भयभीत हो जाते हैं। महावीर कौन ? जो वास्तव में महावीर हो। पर आज नाम के ही महावीर हैं, वैसे गुण उनमें नहीं हैं।

अध्यात्म का दूसरा प्रकार स्थापना अध्यात्म। अध्यात्म की तस्वीर या मूर्ति बना दी, स्थापना करके नामकरण कर दिया, उससे भी काम नहीं होगा। तीसरा है– द्रव्य अध्यात्म। जो कभी अध्यात्म था पर वर्तमान में नहीं है। ये जरूरी नहीं कि आध्यात्मिक बनने के बाद कोई सदा ही आध्यात्मिक रहे। हो सकता है, बना रहे पर बना ही रहे, यह भी जरूरी नहीं है। हवा के वेग से जैसे धूल उड़ती है या हवा से पानी में हिलोरें उठती हैं, वैसे ही, क्रोध, भय, मद, मत्सर की आँधी से जब हिलोरें उठती हैं, आवेग आता है, तब अध्यात्म तिरोहित हो जाता है। जिस क्षण वासना आती है, वहाँ उस क्षण अध्यात्म नहीं रह सकता।

एक छोटा सा आख्यान है– कहा जाता है– वैकुण्ठ में श्री कृष्ण एक दिन भोजन कर रहे थे। रूक्मिणी भोजन परोस रही थी। अचानक कृष्ण भोजन करते–करते उठे और तीव्र गति से भागने लगे। रूक्मिणी ने पूछा– "कहाँ जा रहे हैं ? क्या बात है ? भाग क्यों रहे हैं ? भोजन में कोई ऊँची–नीची चीज आ गई क्या ? बात तो बताओ।" कृष्ण भाग कर दरवाजे तक गये, वहाँ ठहर गये और पुनः लौट गये। रूक्मिणी समझ नहीं पाई– गये, ठहरे, लौट गये, क्या कारण है ? उससे रहा नहीं गया– पूछ लिया– आप क्यों भागे ? कृष्ण ने कहा– रूक्मिणी ! मेरा एक भक्त तानपुरे पर एक गीत गा रहा था उसमें मैं बहुत मशगूल हो गया था। जिस गली से वह निकलता सुरीले राग से मस्त हो कर गाने लगता। कई बच्चों ने उस पर कंकर–पत्थर फेंके, कईयों ने उसे चोट पहुँचाई। जगह–जगह से उसका शरीर लहू–लूहान हो गया। मेरा ध्यान गया तो मैं बचाने के लिए भागा– मेरी भक्ति कर रहा है, उसकी ये दशा हो रही है, बचा लूं। इसलिए थाली का कौर थाली में और हाथ का नवाला

में रह गया और मैं भागा।" रूक्मिणी ने कहा– ये बात तो समझ में आई पर ये समझ में नहीं आई कि दरवाजे तक गए फिर रुक गये। कृष्ण मुस्कुराये, कहने लगे– अब जरूरत नहीं रही। रूक्मिणी ने पूछा– क्या वह मर गया ? नहीं ! मरा नहीं, जीवित है। उस समय तक वह भक्ति में लीन था पर जब मैं दरवाजे तक पहुँचा, तब तक उसने हाथ में पत्थर उठा लिया था और प्रतिकार हेतु तत्पर हो गया था। जब वह स्वयं प्रतिकार हेतु तैयारी कर चुका था तो मेरी जरूरत ही नहीं रही।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता हैं कि जरूरी नहीं कि व्यक्ति हर समय आध्यात्मिक रहे। बहुत समय तक परमात्मा की भक्ति में लीन रहे, पर हो सकता है बाद में भक्त भटक जाये। द्रव्य अध्यात्म यही है कि जो पहले अध्यात्म में रमण कर रहा हो। वह आवेग में आकर उसे छोड़ दे अथवा जो आध्यात्मिक जीवन वह जीने वाला था, उसमें अब आत्मा का निवास नहीं रहा हो, केवल काया रह जाये। एक तीसरा अर्थ और यह है कि अभी वर्तमान में तो कषाय के आवेग में नहीं है पर उसका अध्यात्म की ओर भी लक्ष्य नहीं है, वह अध्यात्म से ओत–प्रोत नहीं है, उससे जुड़ा नहीं है ! भाव नहीं है, उपयोग का संबंध जुड़ा नहीं है, जैसे लाईट फिटिंग हो गई पर मैन स्विच बन्द हो तो लाईन में विद्युत धारा प्रवाहित नहीं होगी। अभी प्रवाह नहीं है पर चालू हो सकता है। रुकावट नहीं है, फ्यूज नहीं है, पर कनेक्शन नहीं है। जुड़े नहीं, तब तक उपयोग रहित अवस्था द्रव्य अध्यात्म की अवस्था है।

नाम अध्यात्म, ठवण अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म छंड़ो रे ......।

ये अवस्थाएँ त्याज्य हैं। निज स्वरूप को पाना है तो पहले अध्यात्म को बारीकी से जानें, नहीं तो ठगे जायेंगे। आज ठगाई की दुनियाँ में कोई अनेक प्रकार के तप, नियम, आसन आदि का प्रयोग करता है, पर इतने मात्र से वह अध्यात्म नहीं होगा। मान लीजिये, किसी ने साधु–पोशाक धारण कर ली तो इतने मात्र से वहाँ

आध्यात्मिकता नहीं आ जायेगी। हॉ, द्रव्य से हो सकता है, पर जरूरी नहीं भाव में भी आ जाय। प्रभु महावीर ने ऐसे साधकों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है–

चिरंऽपि से मुण्डरुई भवित्ता, अथिरव्वए तव नियमेहिं भट्ठो ।
चिरंऽपि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए ।।
–उतराध्ययन सूत्र २०/४१

जो लम्बे समय से मुंडित है। संपराय का अर्थ दो प्रकार का है– जिसे कारण–कार्य कह दूं। पहला अर्थ है– कषाय। साम्परायिकी क्रिया, वह कषाय है, तब तक आत्मा संसार से छूट नहीं सकती। इसलिए प्रभु कह रहे हैं– चिरकाल से जो मुंड़ित है, जिसने साधु जीवन धारण कर रखा है। 'मुंड' का अर्थ साधु जीवन क्यों ? साधु के लिए दस मुंडन आवश्यक हैं। 4 कषाय, 5 इन्द्रिय व एक सिर का मुंडन। आज मस्तक मुंडाने की तो तैयारी है पर कषाय का, इन्द्रिय का मुंडन नहीं बन पाता है। वर्षों तक साधना भी कर ली जाय लेकिन जब तक अध्यात्म आत्मा के भीतर विद्यमान नहीं, भीतरी व्यवहार में नहीं, तब तक अध्यात्म में प्रवेश नहीं होगा। पहले पाँच इन्द्रियों का मुंडन करें। इन्द्रियों के जो विषय सामने हैं, देखें कि वह उसमें कितना अनुरक्त है। यदि अनुरक्त है तो वह कषाय से भी मुक्त नहीं हो सकता। पहले वह विषयों से उदासीन हो तो ही कषाय से भी मुक्त हो सकता है। उदासीनता आ सकती है।

दीक्षित होने के अनेक कारण हो सकते हैं। कभी–कभी हम बहुत भ्रांति में जीते हैं। भ्रांतियों से सोचते हैं। व्यक्ति दुःखी हो गया, इसलिए साधु बन गया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कलयुग के लक्षणों में लिखा है– नारि मुई, घर–सम्पति नासी, मूंड मूंडाय भये सन्यासी। प्रभु का यह उद्देश्य कतई नहीं है कि दुःख है, समस्या है, इसलिए सब छोड़–छाड़ कर साधु बन जाओ। बन भी गया तो रम नहीं पायेगा। क्योंकि उसने साधु–जीवन समझा ही नहीं है। वह तो परिस्थिति से बचना चाहता है, स्वयं को बचाना चाहता है। ऐसी

स्थिति में अध्यात्म का पूर्ण स्वरूप विकसित नहीं हो सकता और यदि साधु बन भी गया फिर वहाँ भी समस्या आई, तो रम नहीं पायेगा। साधु जीवन से भी भागेगा, क्योंकि साधु जीवन का शुद्ध स्वरूप उसने जाना ही नहीं था।

एक करोड़पति परिवार में एक मात्र संतान, एक पुत्र था। वह प्रकृति से बहुत तेज था। उसकी किसी के साथ पटरी नहीं बैठती थी। घर में कुछ झगड़ा होता या और कुछ होता तो वह कहता– मैं साधु बन जाऊँगा। माता–पिता भयभीत हो जाते। अकेली संतान, कहीं साधु न बन जाये। एक दिन वह गुस्से में घर से निकल पड़ा। माता–पिता हैरान हो गये। महात्मा के पास पहुँचे– "महात्मन् ! हमारा पुत्र गुस्से में घर से निकल गया है, यदि यहाँ आ जाय तो साधु मत बनाना। महात्मा ने कहा– "फिक्र मत करो, मुझे नहीं लगता कि वह साधु बनेगा। बन भी गया तो साधना नहीं कर पायेगा। क्योंकि वह परिस्थिति से भागा है। जो भगोड़ा है, वह साधु जीवन की आराधना कर पाये, यह कठिन है। एक बात और समझ लीजिये– अब वह कभी कहे कि मैं साधु बन जाऊँगा तो आप कह देना– जा, बन जा। एक बार संयोग से ऐसा प्रसंग बन गया और उससे कह दिया गया– बन जा। वह घर से निकला, सुबह से शाम तक ठोकरें खाता रहा और वापस घर लौट आया। साधु बनना सहज नहीं है। बनना जितना सरल है, साधुता पालना, उतना ही कठिन है। भगवती सूत्र में कहा गया है– यदि एक वर्ष की दीक्षा पर्याय हो जाय तो वह सर्वार्थ सिद्ध, जिसे छोटी मोक्ष कहते हैं, उसके सुख को लांघ कर आनंदित हो सकता है। जिप्रु अन्ना नाम के एक महात्मा बड़े ही अद्भुत थे। महात्मा से ज्यादा लोगों का कोई परिचय नहीं था। हालत यह थी कि कोई देखे तो कह नहीं सके कि ये महात्मा हैं, पर उनका आध्यात्मिक जीवन अनोखा था। एक व्यक्ति एक बार उधर से निकला तो देखा उनका निवास टूटे–फूटे मकान में होता था। विशेष समय वे जंगल में ही बिताते थे। गाँव–शहर में आना भी होता तो कभी–कभार भिक्षा के लिए ही। आते तो लोक घृणा करते। वे

रहेगा। प्रभु महावीर ने कहा है कि जो दुःखों से घबरा कर उनसे बचने के लिये साधु बनता है, वह साधुत्व निभा नहीं सकता। ऐसा व्यक्ति भले ही व्रतों को स्वीकार कर ले पर वह उनका पालन नहीं कर पायेगा, अस्थिर वृत्ति हो जायेगा। क्योंकि वह इन्द्रिय विषयों से ऊपर नहीं उठा है। अच्छा गायन आ रहा है तो वह सुनने को उत्सुक हो जायेगा। सुन्दर दृश्य होगा तो देखने के लिये आँखें चंचल हो उठेगी। सुगंध लेने के लिए नाक तत्पर हो जायेगी। भोजन में अच्छे पदार्थ आये तो रुच-रुच कर भोजन करेगा। पदार्थ अच्छे नहीं या मान लीजिये साग में नमक न हो या कोई और कमी रह गई हो तो मौन नहीं रहेंगे, तूफान मचा देंगे। ऐसी स्थिति साधु जीवन को जला कर राख बना देगी।

'दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे ना छड्डए'। (दशवैकालिक सूत्र) यह नहीं कि सुगंधित भोजन है तो गप्-गप् खा जाऊँ, दुर्गन्धयुक्त हो तो नहीं लेना। सब भोजन समभाव से करें लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि रस-चलित, फूलन, लार हो जाय, वह भी ले लें। वैसा भोजन वर्जित है। दुर्गन्ध से तात्पर्य है कि बघार की गंध न हो। यह नहीं कि रस चलित हो या सड़ान की गन्ध हो। यह विवेक का विषय है। एक तरकारी जिसमें बहुत तीव्र गंध है, मिर्च मसाले से युक्त है, ढक्कन खोलते ही गंध उठ रही है, और एक बिना नमक मिर्च मसाले की, देखने में भी लुभावनी नहीं हो, एक का तो जायका ले लेकिन दूसरी आ गई तो यह सोचे कि आ गई है तो खानी पड़ेगी। पड़ेगी क्यों ? पेट भरना है, उतार लें। उतारने में भी दो बातें हैं- एक तो सहज भाव से उतार लें, दूसरी प्रतिष्ठा हानि का भय है, इसलिये चुप रह जायें, पर मन में उतार-चढ़ाव के भाव आयें। जैसे कई भाई सौगन्ध लेते हैं- भोजन में कुछ नहीं कहूँगा पर यदि अलूणा भोजन आया, तो बाहर तो प्रतिक्रिया नहीं दिखायेंगे पर भीतर मन में तूफान उठ खड़ा होगा, जो सहज रूप में भले बाहर न निकले पर वह कोई अन्य मार्ग ढूंढेगा और यदि सावधानी नहीं रही तो वह हितकर नहीं होगा। यह भी आध्यात्मिक स्वरूप नहीं है, क्योंकि यहाँ

इन्द्रिय मुंड़न नहीं है बल्कि आसक्ति का भाव छिपा हुआ है। सौगन्ध ने बांध दिया है, इसलिये बोल नहीं पाता। यह वही स्थिति हुई जैसे छोटा बालक या गूंगा बोल नहीं पाता। इसलिए मुँह तो बन्द रखता है पर भीतर तूफान चलता रहता है।

प्रभु महावीर ने कहा है– आध्यात्मिक साधना करना है तो पुद्गल से लगाव नहीं होना चाहिए। यदि पुद्गल से लगाव हो तो आत्मा से उतना लगाव नहीं होगा। कहा भी है–

'निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेहने अध्यात्म कहिये रे'

जो क्रिया निज स्वरूप को साधेगी, वह आत्मा तक पहुँचाने वाली होगी। इसलिये कोई जरूरी नहीं कि साधु बनने पर ही व्यक्ति आत्मा तक पहुँचे। इस संदर्भ में प्रभु ने जो दो मार्ग बताये हैं, उनको भी समझ लेना आवश्यक है। ये दो मार्ग हैं– आगार धर्म और अणगार धर्म। यदि तुममें क्षमता है, कोई तुम्हारे आश्रित नहीं है तो अणगार धर्म की आराधना करो। अभी क्षमता नहीं जगी तो प्रभु ने यह नहीं कहा है कि और कोई मार्ग ही नहीं है। उन्होंने यथार्थ को यथार्थ के रूप में दर्शाया है। अणगार नहीं बन सकते तो आगार धर्म में भी जल–कमलवत् रहो तो अपने आप में आध्यात्मिक जीवन का अभ्यास हो जायेगा।

राजा जनक को विदेहराज भी कहते हैं क्योंकि वे देह में रहते हुए भी विदेही थे। इसीलिये उन्हें राज ऋषि भी कहा जाता है। कभी–कभी आप भी कह देते हैं– वे साधु बने नहीं पर साधु जैसे हैं। श्रावक जब ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करता है, तब उसे श्रमणभूत कहा जाता है। वह है तो श्रावक ही पर उसे श्रमणभूत इसलिये कहते हैं क्योंकि वह भी गोचरी लाता है, लोच करता है तथा श्रमणवत् क्रिया करता है। यद्यपि उसने महाव्रत स्वीकार नहीं किये हैं। जो श्रावक गृहस्थ अवस्था में भी ऐसी उत्कृष्ट करणी करता है, उसके लिये उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है– ऐसे श्रावक साधु से उत्कृष्ट होते

हैं। इसके विपरीत जिसने साधु की पोशाक तो धारण कर ली पर उसमें रमा नहीं है, 'चिरंऽपि मुण्डरुई भवित्ता' जो समय से क्रिया कर रहा है, पर निज स्वरूप की साधना में नहीं लगा तो उसकी वह क्रिया होगी– चार गति को साधने वाली।

भगवती सूत्र में मृतादि अणगार का उल्लेख है। वे अपने निमित्त आरंभ–समारम्भ से बने आधाकर्मी आहार में मशगूल रहते थे। ऐसा साधक चतुर्गति को ही बढ़ाता है। ऐसे अनेक आख्यान आगमों में हैं पर जीवन में उनसे मार्गदर्शन कितना लिया जा रहा है, यह विचारणीय है। यदि एक बात भी जीवन में उतार ले तो कर्मों का सुधार हो जाये, ननंद–भोजाई की बात मैंनें कही थी– यदि ननंद सोचले, मुझे भी तो भाभी बनना है तो क्या वह तूफान मचा पायेगी ? ननंद जैसी ही मानसिकता हमारी भी है। सोचना यह है कि भीतर के तूफान से हम कितना लड़ पाते हैं। हमारे भीतर ननंद की मानसिकता भी विराजमान है और भाभी का स्वरूप भी। यह अनेकान्त का स्वरूप है। ऐसे विविध रूपों का समन्वय हो जाय तो आध्यात्मिक जीवन की दिशा में गति हो सकती है। वहाँ सांसारिकता की दुर्गन्ध नहीं रहेगी, आध्यात्मिकता की सुगंध फैलने लगेगी। जहाँ सुगन्ध है, वहाँ भौंरे स्वयं मंडराने लगेंगे। कवि आनंदघनजी ने वही बात कही है, जो प्रभु महावीर ने कही है– दुःख से घबराओ मत बल्कि दुःख को समझ कर, उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ने की भावना रखो। लेकिन जब तक अविद्या का वास है, तूफान उठेंगे, उन्हें शमित करने के भाव भी बनेंगे पर अविद्या के स्वरूप को दूर करने के लिए, जब तक भीतर से प्रेरणा नहीं मिलेगी, तब तक साधु–जीवन फूलों का मार्ग नहीं बन पायेगा। बीज कड़वे हैं तो फल कड़वे होंगे। भले ही आप कड़वे फल नहीं चाहते हों पर बीज हैं, तो वे पनपेंगे ही। भोजन साधु जीवन नहीं है, न पोशाक अध्यात्म है। यह तो परिचय है। साधु जीवन बहुत कठिन है, जैसे पेड़ खजूर। चढ़े तो माधुर्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु फिसल गया तो क्या अवस्था होगी ? विचार कीजिये। न इधर के रहेंगे न उधर के। कहा है– 'आधी छोड़ पूरी को धावे, आधी मिले न पूरी पावे।

एक मोटी बात है– हम आध्यात्मिक जीवन की पहचान कैसे करें ? श्रावकों ने आचार्य श्री श्रीलालजी म. सा. से पूछा– भगवन् ! हम इतने लम्बे चौड़े आगम नहीं पढ़ सकते। हम कसौटी, परीक्षण कैसे करें कि कौन साधु है और कौन असाधु ? क्योंकि कहा गया है कि असाधु को साधु मानें तो मिथ्यात्व दोष लगता है। आचार्य श्री ने उत्तर दिया–

ईर्या भाषा एषणा, ओलख जो आचार।
गुणवन्त साधु देखने, वन्दो बारम्बार।।

जिसके जीवन में ईर्या समिति, एवं भाषा समिति का पुट हो तथा जिसकी एषणा सही हो, वही वस्तुतः साधु जीवन में रमने वाला है। 24 घंटे रह कर आप उसके जीवन व्यवहार को देख लें। मालूम पड़ जायेगा कि घड़े में कितना पानी है। कोरी मटकी में पानी भरते हैं तो किधर से पता लगायेंगे कि उसमें कितना पानी है ? बाहर से ही मालूम पड़ जायेगा। जहाँ तक गीली दिख रही है, वहाँ तक भरी है– आधी भरी है या पूरी भरी है। जितना पानी बढ़े या घटे, जैसे वह पैमाना है वैसे ही साधु जीवन का भी पैमाना है– ईर्या, भाषा, एषणा। क्योंकि ईर्या समिति कोई मामूली चीज नहीं है। आज हम सोच लें नीचे देख कर चलना ही ईर्या है। लेकिन सिर्फ यही उसका स्वरूप नहीं है। पाँच इन्द्रियों के विषयों, तथा पाँच प्रकार के स्वाध्याय को छोड़कर, उपयोग पूर्वक नीचे देखते हुए गमन करना, यह है– ईर्या समिति। भाषा समिति के लिए कहा गया है– 'साधु सोहन्ता अमृत वाणी', मानो अमृत टपक रहा हो, एक–एक शब्द मिठास से सना हो। इतना माधुर्य कि टपकते ही कोई चाहे, मैं ग्रहण कर लूं। जैसे शहद की बूंद टपके तो कोई चाहे उसे अवेर लूं। वैसी ही माधुर्य रस पूर्ण भाषा हो। एषणा समिति देखें कि वह आत्मा को ठग तो नहीं रहा है। यदि ये पैमाना सही है तो समझिए जीवन में अध्यात्म उजागर हुआ है और निज स्वरूप को साधा जा रहा है। अन्यथा पोशाकें तो एक नहीं अनेक जन्मों में धारण की, किन्तु 'न पारए होइ हु संपराए'

जिस नाव में बहुत से छिद्र हैं, वह पार करने-कराने में सक्षम नहीं हो सकती। आपने देखा होगा चलनी को, पहले जब उससे दाल धोते हैं तो सारा पानी ऊपर आ जाता, भूसा अलग हो जाता। यदि कुंडे में चलनी तैरती है तो फिर नाव क्यों डूबेगी ? चलनी भी जैसे पानी भरने पर नीचे बैठती है वैसे ही आस्रव का, पापों का पानी जीवन में भर गया तो वह चार गति में डूबायेगी। डुबाने में सहयोगी बनने वाले छिद्र हैं- ईर्ष्या, क्रोध, मान, मद, मत्सर, विषय-वासना आदि। जब तक छिद्र हैं, व्यक्ति संसार से पार नहीं हो पोयगा। चाहे वह किसी पोशाक या किसी मजहब में रहे। चाहे वह प्रभु की चरण उपासना करने वाला ही क्यों न हो। प्रभु से पूछा गया- "श्रेणिक कहाँ जायेगा ?" प्रभु ने कहा-"नरक में।" पूछा गया- वह तो आपका भक्त है। उत्तर मिला- भक्त होने से क्या होगा ? आचार-विचार की निर्मलता और अध्यात्म का पानी होना चाहिए। इनके आधार पर ही स्वर्ग-नरक के द्वार खुलते हैं। कवि ने प्रार्थना में कहा है-

'भाव अध्यात्म निज गुण साधे तो ते शूरण मंडो रे।'

भाव अध्यात्म का ज्ञानी मिले तो उसके साथ खूब खेलो। उसकी पिचकारी के रंग में स्वयं को रंग लो। तुम्हारे जीवन में भी महक आ जायेगी। फूल तो पलास का भी होता है, पर वहाँ खूशबू नहीं मिलती। वैसे ही नाम स्थापना और द्रव्य आध्यात्म हैं। भाव की अवस्था नहीं तो वहाँ खुशबू नहीं फैल सकती। भाव अध्यात्म रम जाये तो जीवन में परिवर्तन आ जाता है- 'समो णिंदा पसंसासु' वह फिर स्तुति से प्रसन्न नहीं होता और निन्दा से नाराज नहीं होता। चाहे मान हो या अपमान, पर वह उसे मान-अपमान मानता ही नहीं-'मान अपमान दोऊ समान गणे।' ऐसा होगा पूर्ण अध्यात्म का जीवन जीने वाला। आवेश में आने वाले को हिताहित का विवेक नहीं रहता। पाँच समिति, तीन गुप्ति के प्रसंग से उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- क्रोध के वश, मान के वश, हास्य के वश, मिथ्या अथवा अन्य किसी मनोवेग के वश मिथ्या अथवा अस्पष्ट भाषा न बोले। क्रोध के क्षणों

८. स्वस्थ जीवन का रहस्य

देवाधिदेव चरम तीर्थेश प्रभु महावीर वीतरागता से ओत–प्रोत अवतिष्ठ हैं। गणधर गौतम स्वामी प्रभु महावीर के समीप पहुँचते हैं और प्रभु को वंदन करते हैं। गुरु के निकट पहुँच कर वंदना करने का तात्पर्य ही यह है कि आप गुरु से कुछ चाह रहे हैं। जिस ओर से लेना होता है, उस ओर बर्तन को नमाना पड़ता है। गुरु से लेना है, इसलिए गुरु को पहले नमन किया, फिर प्रश्न किया– "भगवन् ! स्वस्थ रहने का उपाय क्या है ? प्रश्न लोकहित का है, क्योंकि बीमारी को कोई किसलिए चाहेगा ? बीमारी कोई मौज–शौक तो है नहीं। विनोद में कभी भले कह दें कि चार दिन रेस्ट मिल जायेगा परन्तु वास्तव में क्या बीमार पड़ने का मन चाहता है ? कोई धनी हो या गरीब, बालक हो या युवा, सबकी यही चाह रहती है कि वह स्वस्थ रहे। गौतम स्वामी भी पूछ रहे हैं, स्वस्थ रहने का तरीका या सूत्र। वैद्यक के ग्रंथों में भिन्न–भिन्न बीमारियों के उपचार के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के सूत्र दिये गये हैं। गौतम स्वामी ने किसी विशेष बीमारी का नाम नहीं लिया। बीमारियाँ तो लाख प्रकार की हो सकती हैं। इसलिये गौतम स्वामी ने सोचा होगा, एक–एक के लिए पूछूंगा तो अलग–अलग नुस्खे बतायेंगे इसलिये यही पूछ लूं कि स्वस्थ रहने का नुस्खा क्या है, जिससे अनेक नुस्खों के बदले एक नुस्खा ही मिल जाये। भगवान् ने भी सटीक उत्तर दिया– "अविद्या को दूर कर दो।"

आप सोच सकते हैं कि यह कैसी बात हुई, अविद्या का स्वस्थ रहने से क्या लेना देना ? परन्तु बात बहुत गंभीर आर अर्थपूर्ण है। इसे अविद्या के संदर्भ में ही समझना होगा। तो समझें 'अइयं पडिक्कमामि पडिपुण्णं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि' अविद्या को जड

मूल से दूर करना है तो पहले 'अइयं पडिक्कमामि' अतीत का प्रतिक्रमण करें। आप प्रतिक्रमण किसका करते हैं ? ..... के विषय में जो दोष लगा हो तो– (अतीत, वर्तमान, भविष्य) मिच्छामि दुक्कडं। आपने प्रत्याख्यान तो अभी किये हैं, उसमें कौन सा दोष लगा ? अभी तो पच्चक्खाण किये हैं, कुछ क्षण ही निकले हैं। गहराई से समझना होगा कि श्रृंखला कैसे जुड़ी। प्रभु ने यह स्वस्थ रहने का सूत्र बता दिया। सबसे पहले अतीत का प्रतिक्रमण करना है। बीमारी में मूल कारण है– पेट ! पेट खराब है तो बीमारी पैदा होगी। कहा भी है– पेट नरम, पैर गरम और मस्तक ठंड़ा, उसके बाद भी वैद्य आये तो मारो ड़ंडा। ये स्वस्थता के लक्षण हैं पर आज स्थिति विपरीत है। पैर ठंडे होते हैं और मस्तक गर्म। इसीलिये बीमारी पनपती है। पेट कड़ा है तो स्वस्थता नहीं रहेगी। स्वस्थ रहना है तो पहले पेट की चिन्ता करो, क्योंकि वहाँ ही स्वास्थ्य या रोग का उद्‌गम है। यदि उसे कचरा–पेटी की तरह नहीं भरा तो वह स्वस्थ रहेगा, और आप सहसा बीमार नहीं पड़ेंगे। वैद्य स्वास्थ्य के लिए सबसे पहले विरेचन क्रिया कराता है ताकि दस्त लगने से पेट साफ हो जाये। यदि ऊपर कुछ रह गया तो उसे वमन द्वारा साफ करा देगा। स्वेदन प्रक्रिया भी की जाती है। इन तीनों प्रक्रियाओं से पूर्व संचित मल का निष्कासन किया जाता है। वमन, विरेचन के लिए औषधि दी जाती है ताकि मल निकल जाय। पर मॉस व चर्बी में भी जो मल संचित है, उसके लिए स्वेदन क्रिया है। शरीर की मालिश करके धूप में बैठें फिर गरम व ठंडे पानी से शरीर को साफ करें ताकि चमड़ी व मांस के वैकारिक तत्त्व स्वेदन से बाहर आ जायें, फिर जो शरीर की अवस्था होगी वह स्वास्थ्य की होगी।

मैं अतीत प्रतिक्रमण की बात कह रहा हूँ। शारीरिक ढाँचा जो प्रतिदिन उपयोग में आता है, उसके लिए वमन, विरेचन, स्वेदन की बात कही गई है। उसके बाद कहा गया– 'पडिपुण्णं संवरेमि' वर्तमान का संवर। फिर वे पदार्थ ग्रहण हो, जो पेट की मशीन की क्षमता के अनुरूप हों। यदि एक ट्रक में उसकी क्षमता से डेढ़ा–दुगना

माल भर दिया गया तो मशीन ठप्प हो जायेगी। कुछ दिन भले चल जाय, पर जल्दी ही खराब हो जायेगी। वैसे ही भीतर के जो यंत्र हैं– लीवर, किडनी, हृदय आदि, ये जितना कार्य कर सकते हैं, तद्नुरूप ही आहार–ग्रहण हो। यदि जठराग्नि मंद है और मक्खन खा लिया तो वह पचेगा नहीं। भीतर जमाव होगा। अतः वर्तमान में संयम रखा जाय। जब जान लिया ये मेरे लिये अनुकूल नहीं तो भविष्य के लिए उसका त्याग कर दें। वे पदार्थ ग्रहण न किये जायें, जिनसे अस्वस्थता का सम्बन्ध जुड़ता है। यह है, शरीर की दृष्टि से स्वस्थता। आत्मा की दृष्टि से भी स्वस्थता की बात कही गई है– स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः। जो अपने आप में रहता है, वह स्वस्थ है। कवि प्रार्थना की कड़ियों में कह रहे हैं– "वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घन नामी पर नामी रे।" कौन है वासु ? किसे कहते हैं वासु ? आप कहेंगे– 12 वें तीर्थंकर हैं। पर इसका दूसरा अर्थ भी संभावित है। वासु का अर्थ है पृथ्वी, आत्मा। उसके हिसाब से विचार करें तो– पृथ्वी समो मुणि हविज्जा। वैसी वीतरागता हो, चाहे वे 12 वें तीर्थंकर हों या अन्य कोई। वे पृथ्वी की तरह राग–द्वेष से रहित 'स्वस्मिन् तिष्ठति' अर्थात् अपने आप में रूके हों। आत्म स्वरूप में उपलब्ध होना, अपने आप में ठहरना है। आप विचार करेंगे कि अपने आप में पहुँच गया तो ठहरेगा ही ? कभी–कभी साधक 11 वें गुणस्थान से वापस गिरता भी है। 11 वें गुणस्थान में वीतरागता है, नहीं है तो वह सर्वज्ञ नहीं है। पर वीतराग है, राग–द्वेष नहीं है। प्रश्न होगा– सर्वज्ञ एवं वीतराग क्या अलग–अलग है ? तब समझ लें वीतराग के चार भेद किये गये हैं, जो एक समान नहीं हैं। लेकिन संशय में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। पहली अवस्था है– मोह कर्म के उपशम की, 11 वें गुणस्थान में। दूसरी अवस्था है– मोह कर्म के क्षय की, 12वें गुणस्थान में। तीसरी अवस्था है– सयोगी सर्वज्ञ की और चौथी अवस्था है अयोगी सर्वज्ञ की। 11 वें गुणस्थान में मोहनीय का उपशम भाव है। वहाँ आत्मा का यथार्थ स्वरूप उजागर है पर मल नष्ट नहीं हुआ है। वमन विरेचन हो गया पर स्वेदन नहीं हुआ है। विकार आत्मा के नीचे चले गये हैं।

समय आने पर पुनः प्रकट हो सकते हैं और ऐसी आत्मा संसार में भ्रमण करता रहेगा। वीतराग के चार भेद हैं पर सर्वज्ञ के दो ही भेद हैं– सयोगी सर्वज्ञ, अयोगी सर्वज्ञ। अयोगी में योग की प्रवर्तमान अवस्था नहीं है। वीतराग उस अवस्था का द्योतक है– जो 'स्वस्मिन् तिष्ठति' स्वयं में ठहरता है, वापस नहीं गिरता, वह है, स्वस्थ। स्वस्थ प्रक्रिया के लिए कहा है– अविद्या को दूर करने के साथ ही अतीत का प्रतिक्रमण हो ! आत्मा को स्वस्थ बनाने के लिए मार्ग है– सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र। सम्यक् दर्शन में प्रवेश हो गया तो समझ लो कि किसी रूप में वह स्वस्थ हो गया। यद्यपि पूर्ण स्वस्थ नहीं हुआ पर उस दिशा में कदम बढ़ गये। उसे बरकरार रखने के लिए है–'पडिपुण्णं संवरेमि' परन्तु यह प्रतिक्रमण कैसे हो ? आलोएमि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। जो कुछ भीतर रहा हुआ है, उसकी आलोचना करें, निन्दा आदि से वमन–विरेचन कर लें। विकारों का वमन–विरेचन हो गया फिर जो व्रत–प्रत्याख्यान स्वीकार किये जायेंगे, उनका फल भी प्राप्त होगा। चाहे वे श्रावक व्रत हों, श्रमणव्रत–महाव्रत हों। तब क्या जिसने 12 व्रत स्वीकार कर लिये, वह स्वस्थ हो गया ? प्रभु ने कहा– 'नहीं'। सोमिल ब्राह्मण ने पहले 12 व्रत ग्रहण किये लेकिन फिर संतों का सहयोग नहीं मिला। पासत्थों के संयोग से व्रत स्खलित हो गये। दाणंवा आदि प्रव्रज्या स्वीकार कर विचरने लगा। फिर एक बार पूर्व संगिक देव ने प्रतिबोध दिया–"12 व्रत स्वीकार करो।" एक बार तो उसने सुना–अनसुना कर दिया, दूसरी बार फिर वही प्रबोध दिया गया पर उसे 12 व्रतों में रस नहीं आया, आनंद नहीं आया। क्योंकि वह उनमें रम नहीं पा रहा था।

आपका पहला व्रत है– थूलाओ पाणाइवायाओ विरमण ......। विरमण अर्थात् 'विगतः रमणः यस्मात्' जिसमें से रमण निकल गया। वह अब तक प्रमाद में, हिंसा में, आनंद मना रहा था। उससे विगतः अर्थात् रहित हो गया। इस प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी आदि में रमण स्वयं को अलग कर लिया। दूसरा अर्थ रमण का होगा– ।

रमणं यस्मिन्' जिसमें विशेष रमण हो, अर्थात् अहिंसा में, सत्य में रमण हो। एक ओर निवृत्ति है, दूसरी ओर प्रवृत्ति है। प्रभु ने निष्कर्मण्यता का सिद्धान्त नहीं दिया कि निठल्ले हो कर बैठे रहो। क्योंकि खाली दिमाग में शैतान का वास होता है। निष्कर्मण्य नहीं होना है, पर अहिंसा के आनंद में, उसके भोग के पारावार में रम गये तो शेष भोग छोटे नजर आयेंगे। कहते हैं, श्री नाथ जी को भोग लगाया जाता है तो मणोबंद सामग्री होती है। तीर्थंकर के लिए कहा जाता है कि वे आनंद भोग रहे हैं। उनके तो अन्तराय कर्म का क्षय हो गया तो क्या वे इन्द्रिय सम्बन्धी भोग भोगते हैं ?

आत्म–आनंद के भोग का, जो रस पी ले फिर उसे क्या दूसरा रस भायेगा ? जिसने क्षीर समुद्र के क्षीर का या इक्षु रस का पान कर लिया, उसे फिर अन्य रसों में स्वाद नहीं आयेगा। परन्तु पहले वह जिसमें रमण करना चाहता है, उससे बाहर की गंदगी को पहले दूर करना पड़ेगा। कचरे की दुर्गन्ध आती रही तो रमण नहीं होगा। मान लीजिए यहीं पास में गंदगी है, बदबू आ रही है तो क्या आपका व्याख्यान में मन लगेगा ? बार–बार नाक पर हाथ जायेगा। आप एकाग्रचित्त नहीं हो पायेंगे। वैसे ही भीतर यदि अज्ञान का कचरा है तो विशेष रूप से रमण क्रिया नहीं सधेगी। ऐसा कब हो पायेगा ? तब, जब अतीत का हम प्रतिक्रमण कर लेंगे। प्रभु ने इस व्रत–प्रत्याख्यान की विधि बताई है। अतीत का जो कुछ कचरा है, अब तक जिसमें रमण होता रहा है, उसे बाहर निकाल दो, फिर वर्तमान का संवर करो। वर्तमान में हिंसा करते रहे तो काम नहीं सधेगा। क्योंकि कचरा वापस भर जायेगा और फिर–दुर्गन्ध आने लगेगी। कचरा पुनः न भर पाये, इसलिए संयम है, संवर है। कचरे का मार्ग इनकी सहायता से रोक दो, फिर भविष्य का प्रत्याख्यान करो–अर्थात् द्वार पर खूंटा लगा कर ताला जड़ दो। यह प्रतिज्ञा सूत्र जुड़ गये तो यह विधि बन जायेगी। गये काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवर और भविष्य का प्रत्याख्यान हैं। ये ही सही विधि भी है। अतः इस रूप से व्रत–प्रत्याख्यान न करें कि ऊपर से एक–दो व्रत स्वीकार कर लिये। फिर कहें कि

सामायिक में मन नहीं लगता। लगेगा कहाँ से ? नीचे आग सुलग रही है तो दूध में उफान आयेगा ही। नीचे कचरा बिखरा है और ऊपर जाजम बिछा दी तो दुर्गन्ध आयेगी ही। दूध के नीचे से आँच हटा दी, जाजम के नीचे से कचरे को बाहर निकाल दिया फिर चाहे छोटी या पतली जाजम ही हो पर असुविधा नहीं रहेगी। आंच नहीं हटाने के बाद दूध में उफान ही आयेगा। तुम्हें आनंद में रमण करना है तो विधि को स्वीकार करो। यदि उस विधि से न चले, 'मिच्छामि दुक्कडं' अतीत का प्रतिक्रमण नहीं किया, भीतर गांठे रहने दी, फिर बाहर से व्रत–प्रत्याख्यान कर भी लिये तो भीतर का शल्य चुभेगा ही। सही आराधना भी नहीं होगी।

सोमिल ब्राह्मण ने पूर्व के साथी देव द्वारा बार–बार प्रतिबोधित किये जाने पर पुनः 12 व्रत स्वीकार कर लिये। विधि सहित पालन भी किया कि बड़ी चोरी, हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, लेकिन प्रारंभ में दोष लगाये थे और अंत में आलोचना किये बिना ही संथारा कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। जब भगवान् से पूछा गया– "उसकी आराधना हो गई ?" तो उत्तर मिला– णो इणट्ठे समट्ठे। यह अर्थ समर्थ नहीं, क्योंकि अतीत का प्रतिक्रमण नहीं किया। कचरा नहीं निकाला– 'तस्स ठाणस्स अणालोइए' उसकी आराधना नहीं हुई। आराधना का सही तरीका है– अइयं पडिक्कमामि, पडिपुण्णं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि, जो कुछ हुआ है, उसको वमन–विरेचन से साफ कर लो, उसका वर्तमान में संचय मत करो, कर रहे हो तो रूको, फिर भविष्य के लिए भी प्रत्याख्यान कर लो। समकित में कहा जाता है– पिछले जन्मों के पापों की आलोचना करता हूँ, इसके साथ ही वर्तमान को सजा लो और भविष्य के लिए प्रतिज्ञा–बद्ध हो जाओ कि अब वैसा नहीं करूँगा। यह व्रतों को स्वीकार करने की विधि है। यदि विधि के अनुरूप गति नहीं हुई हो तो उसका मिच्छामि दुक्कड़ं दिया जाता है, क्योंकि यदि अविधि हुई तो लाभ नहीं होगा।

अभिजित कुमार श्रावक बन गया। श्रावक बनने के बाद एक

बार क्षमापना के प्रसंग पर उसने कहा– प्रभु महावीर के शासन में उदायन मुनि को छोड़ कर सभी को वंदन–नमस्कार करता हूँ। एक को छोड़ अर्थात् उससे संबंधित सारा कचरा जमा रहने दिया, तो उसकी विराधना हो गई। याद रखें कि 12 व्रतों का स्वरूप जीवन को परिष्कृत करने वाला है। पर उसे अमल में न लायें तो रूपांतरण नहीं होगा। इस संदर्भ में सुबाहुकुमार का प्रसंग ध्यान में रखने योग्य है। उसने 12 व्रत स्वीकार कर जीवन का परिवर्तन किया। उसके लिए कहा गया– 'अभिगम जीवाजीवे'। जीव–अजीव को जाने बिना संसार की प्रत्येक आत्मा को आत्मा के समान नहीं समझा जा सकता। पहले नव तत्त्वों का ज्ञान करना होता है–

नव भूल्यो छ चूक्यो, बारह रो नहीं जाणे नाम।
नगर ढ़िढोरो पीटियो, श्रावक म्हारो नाम।।

श्रावक को यदि जीव–अजीव का ज्ञान होगा तो ही स्थूल प्राणातिपात का पालन होगा। ज्ञान ही नहीं है तो उसे रौंदता चला जायेगा। 'अभिगम जीवा जीवे' महत्त्वपूर्ण है। यहीं से जीवन में बल आता है पर स्वरूप का ज्ञान नहीं तो आराधना भी सही विधि से नहीं हो सकेगी। उसे आनंद ही नहीं आयेगा। उसी प्रकार जीवन का स्वाद नहीं आयेगा, जैसे भोजन रूखा–सूखा हो तो स्वाद नहीं आता है।

गौतमस्वामी ने स्वस्थ रहने का तरीका पूछा तो उत्तर मिला– "अविद्या को दूर करो।" अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवर और भविष्य का प्रत्याख्यान करो। इस प्रकार की विधि सधती है तो आत्मा स्वस्थ होगी, बीमारी नहीं रहेगी। अनादि काल से जो कर्मों की बीमारी लगी हुई है उससे छुटकारा मिलेगा अन्यथा 'जावंतऽविज्जा पुरिसा' अनंतकाल से तो अविद्या रही ही है, चाहे और अनंत काल आयें तो भी छुटकारा नहीं होगा। हम जानते हैं कि यदि बीज पड़ा है तो अंकुरित तो होगा ही। उद्धार चाहते हैं तो इस त्रिपुटी को

स्वीकार करना होगा तभी अविद्या समूल दूर होगी और स्थिति यह हो जायेगी– 'वासूपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे।'

वासूपूज्य की महिमा को समझें, वे पृथ्वी के ही नहीं, त्रिभुवन अर्थात् उर्ध्व, मध्य और अधो लोकों के स्वामी हैं। जिनेश्वर देव बीमारी, उसके कारण और उपचार का तरीका जानते हैं और वह तरीका मानव मात्र के हित के लिये समाज के सामने रखते हैं। परन्तु उनके द्वारा दिखाये गये तरीके को हम मात्र सिद्धान्त के ही रूप में ग्रहण करें, उस पर अमल न करें तो उसका लाभ कैसे मिल पायेगा ? स्वस्थ होना है तो उसका उपयोग करना होगा, अन्यथा उसका ज्ञान मात्र व्यर्थ है। उस स्थिति में जीवन का रूपान्तरण किसी भी प्रकार संभव नहीं होगा। अमल में लायें तो अवश्य चमत्कार होगा। उसी प्रकार आनन्द आयेगा, जैसा पूणिया श्रावक को आनंद आया था। यह आनंद स्वतः ही अपने भीतर संप्रतित, निर्झरित होगा। हम समझें कि अपने आप में जो आनंदित है, शांत है, उसकी अलग ही महिमा है। परन्तु यदि सम्पूर्ण जीवन क्रम की आलोचना नहीं हुई तो शांति नहीं मिलेगी, आनंद का निर्झर नहीं बहेगा और स्व में अवतिष्ठि भी नहीं होगी।

विधि का जीवन के साथ समायोजन नहीं हुआ तो आस्रव नहीं रुकेगा। और उस भगवान् के साथ जिसे घननामी कहा गया है 'स्वस्मिन् तिष्ठति' की अवस्था नहीं बनेगी। त्रिपुटी का सूत्र स्वस्थ करने वाला है। यदि आत्मा स्वस्थ है तो शरीर व मन भी स्वस्थ रहेंगे, इन पर नियंत्रण रहेगा। अत्मा की बात चलेगी तो प्रत्येक क्षेत्र में विजय प्राप्त होगी और जीवन मंगलमय दशा में अवतिष्ठ होगा। स्वस्थ रहने का यही एकमात्र उपाय है, यह भली प्रकार से समझ लेने की आवश्यकता है।

दि. 28-10-96

९. अभेद अवस्था का मर्म

जैसे–जैसे मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है, उसे विषयों का ज्ञान होना प्रारंभ हो जाता है। आँखों से जो कुछ वह देखता आ रहा था, उसका जब अनुभव करता है, तब वह वास्तविक भेद को समझ पाता है। वह देखता है कि भेद की स्थिति से, जितने भी मनुष्य हैं, उनका आकार–प्रकार भिन्न है। मकान पशु, वृक्ष जिस की ओर भी उसकी दृष्टि जाती है, उसे भेद ही भेद नज़र आता है। इस भेद और अभेद में दो अवस्थाएँ हैं। ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना। साकार और निराकार के चिन्तन की ओर वह उन्मुख होता है। साकार के चिन्तन में भेद की अनुभूति होती है। क्योंकि वहाँ भेद होता है पर यदि इस भेद को अभेद की दिशा में ले जाना है तो इसे व्यापक करना होगा।

अभेद के भी दो रूप हैं। पहला खूब व्यापक, दूसरा संकुचित। व्यापक अभेद में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव आते हैं। जहाँ सब को एक परिवार के रूप में देखा जाता है। जितने व्यापक में गये थे, उतने ही सूक्ष्म में लौटें तो एकदम वहाँ अभेद पायेंगे। वहाँ आत्माओं, मनुष्यों, आकार–प्रकार आदि की भिन्नताएँ तो हैं पर मनुष्यत्व भिन्न नहीं, एक है। जीवत्व गुण एक है वह अभेद है। इस जीवत्व गुण पर भी विचार करें, जिसके कारण प्राणी जीवित हैं तथा हलन–चलन करते हैं। हलन–चलन की क्रिया जड़ में भी होती है पर चेतन की क्रियाएँ उससे भिन्न होती हैं। जीवत्व वह है, जो जी रहा है, जीयेगा तथा भूत मे जीवित था। वह है– जीव। यह है– अभेद ! भेद–अभेद दोनों वस्तु हैं ! कभी सोचें भेद ठीक नहीं है, अभेद होना चाहिए, अन्यथा काम नही चलेगा, व्यवहार का कार्य नहीं चलेगा। ज्ञान निश्चित रूप से भेद को

स्वीकार करता है अन्यथा मनुष्य–पशु एक हो जायेंगे, गुड़–गोबर एक हो जायेंगे। अभेद अवस्था को भले निर्विकल्प स्वीकार किया हो पर ज्ञान अवस्था अभेद नहीं, भेद–ग्राहक है।

भगवान् महावीर विराजे हुए हैं। बहुत–सी पृच्छाएँ गणधर गौतम स्वामी द्वारा की जा रही हैं। अन्य साधक भी पृच्छाएँ कर रहें हैं। श्राविकाओं में जयन्ती बाई ने भी पृच्छा की। गौतम स्वामी प्रभु के चरणों में पहुँचे, कहने लगे– "भगवन् ! देखते हैं, एक व्यक्ति साधना– मार्ग में बहुत शूरवीरता से आगे बढ़ता है किन्तु कालान्तर में वह कायर हो जाता है अर्थात् साधना क्षेत्र में आलसी/प्रमादी हो जाता है, इसका कारण क्या है ? ऐसा क्यों होता है ?" आप स्मरण कीजिये, मैं भी कई दिनों से चर्चा कर रहा था। बोल रहा था–जावंतऽविज्जा, दुःख का मूल कारण अविद्या है। भेद ग्राहक दृष्टि से सोचें, "जे केई उपवइए नियंठे धम्मं सुणेता अविणओ पवन्ने !" एक–एक पद सारगर्भित है। सभी के लिए यह नहीं कहा है। कहा–गया है कोई–कोई निर्ग्रन्थ। निर्ग्रन्थ की व्याख्या भी महत्वपूर्ण है। 'प्रव्रज्या' भी महत्त्वपूर्ण शब्द है। मोटे रूप में प्रव्रज्या का अर्थ घर छोड़ कर संयमी या साधु बनना लिया जाता है पर इस रूप की पहचान क्या है हमारे पास ? कपड़े बदल लिये, जीवन पर्यन्त के लिए व्रत स्वीकार कर लिया तो हम मान लेते हैं कि यह साधु है। लेकिन साधु बनने की पूर्व भूमिका क्या है ? भगवान् से जब पूछा गया तो भगवान् ने कहा– 'सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं' शूरवीरता से जिसने स्वीकार किया। स्थानांग सूत्र में कहा गया है– सिंह की तरह स्वीकार करता है। पूछ लिया– सिंह रूप से स्वीकार करने के पीछे क्या स्वरूप है ? तो कहा गया– 'धम्मं सुणेता' सुनना कैसे ? वह भी कई प्रकार से होता है। नन्दी सूत्र में तीन प्रकार की परिषद् का कथन है– जाणिया, अजाणिया, दुर्विदग्धा।

जाणिया अर्थात् जिसे पूर्व से ही कुछ बोध प्राप्त है, यह बोध अति विस्तृत भी हो सकता है। जैसा भगवान् महावीर का था।

भगवान् महावीर पाठशाला में पढ़ने गये। इन्द्र ने देखा, ये तो तीन लोक के स्वामी हैं ये क्या पढ़ेंगे और इन्हें शिक्षक क्या पढ़ायेंगे ? ये तो शिक्षकों के शिक्षकों को भी पढ़ा सकते हैं। कहीं तीर्थंकर की आशातना न हो जाये, गृहस्थ अवस्था में ही इनकी प्रतिभा का परिचय सबको मिल जाय। इन्द्र ब्राह्मण के रूप में पहुँचे। श्याम पट्ट पर दो रेखाएँ खींच दी और पंडित से कहा-- "मैं इसका अर्थ जानना चाहता हूँ।" कोई भी विद्यार्थी अर्थ बताने में सक्षम नहीं था, अध्यापक स्वयं दुविधा में थे। परन्तु तभी छोटा बालक महावीर अध्यापक के पास पहुँचा और उनसे कुछ विनम्र निवेदन किया। तब अध्यापक ने कहा-- यह प्रश्न तो छोटा सा विद्यार्थी भी हल कर देगा। आज प्रवेश पाने वाला विद्यार्थी भी इसका उत्तर दे सकता है। तत्पश्चात् कहा-- "वर्धमान ! इस प्रश्न का उत्तर दो। महावीर ने विनयपूर्वक खड़े होकर कहा-- ये दो रेखाएँ सम्पूर्ण विश्व को, सभी लोकों को प्रदर्शित करने वाली हैं। पूरे लोक में दो ही राशियां हैं-- जीव राशि और अजीव राशि। हम विचार करें कि क्या प्रथमा मे पढ़ने वाला छात्र ऐसे गहन विचार रख सकता है ? ये है-- जाणिया परिषद्।

दूसरी है अजाणिया परिषद् अर्थात् जो जानता नही हैं। तीसरी है-- दुर्विदग्ध। अजाण को ज्ञान कराना सरल है, छोटे बालक को सिखाना सरल है, कच्चे घड़े पर जो चाहे अंकित किया जा सकता है।

यन्नवे भाजने लग्नः, संस्कारो नान्यथा भवेत्।

पर जो दुर्विदग्ध है अर्थात् पहले ही आधा--भर चुका है, जो कुछ सीखा है, कुछ भी इधर--उधर से लेकर, ऐसे व्यक्ति को बोध देना कठिन है। दुर्विदग्ध गुरु के समीप नहीं जाता, गुरु से ज्ञान नहीं सीखता। गुरु से जिसने ज्ञान नहीं लिया है, वह इधर--उधर आने--जाने वालों से ही पूछेगा-- 'क्या बात चली ?" सुनने वाले ने भी 100 प्रतिशत तो सुना नहीं था। जो थोड़ा बहुत सुना था, उसमें से दो चार आंकड़ें बता देगा। इसी प्रकार वह अन्य लोगों से पूछ लेगा। फिर

कहेगा– आपने ऐसी बात कही थी, ऐसा व्यक्ति आने वालों की बातों से संस्कार प्राप्त कर लेता है। यह है दुर्विदग्ध की पहिचान।

जो शूरवीरता से संयम लेते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं (1) जाणिया (2) अजाणिया। जाणिया जानता है कि गुरु से ज्ञान कैसे लेना है। अजाणिये को तो जैसे हांकोगे, चलता चला जायेगा। वह यदि धर्म सुनता है तो विनय पूर्वक उपस्थित होकर सुनता है– "धम्मं सुणेता सुदुल्लहं बोहिलाभं" विनय पूर्वक, बहुमान पूर्वक भक्ति करता हुआ, जो व्यक्ति गुरु से धर्म सुनता है, वह दुर्लभ बोध प्राप्त करता है। कितना मार्मिक शब्द है 'सुदुल्लहं'– बड़ा ही दुलर्भ है। मेघकुमार जब हाथी के भव में थे, तब उन्होंने प्राण भूत जीव और सत्व की रक्षा की। पैर के नीचे आये खरगोश को बचाया– कहीं यह कुचल न जाय, मृत्यु को प्राप्त न हो जाये, पैर ऊपर उठाये रखा। हाथी के भव में लगभग 20 प्रहर पैर ऊपर उठाये रखा। उस समय जो अध्यवसाय रहा, उसके संबंध में शास्त्रकारों ने कहा– 'अपडिलद्ध सम्मत दंसणं पडिलंभेण' अर्थात् जो अब तक प्राप्त नहीं हुआ था, उस सम्यक्त्व रत्न को उसने प्राप्त किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आवश्यक नहीं कि मनुष्य बोधि प्राप्त करे। पशु भी बोधि प्राप्त कर सकता है। उस हाथी ने दुर्लभ बोधि प्राप्त की।

एक राजा बादशाह बन गया। पहले भी सुखमय जीवन जिया था, अब तो सभी ओर सुख ही सुख था। दुःख का ज्ञान उसे कैसे होता ? जब तक व्यक्ति के जीवन में दुःख नहीं आता, वह दुःख के स्वरूप को जान नहीं पाता। शालीभद्र ने दुःख देखा ही नहीं था। हम जानते हैं कि जिसने दुःख, संकट, विपदा नहीं झेली, गुलछर्रे ही उड़ाता रहा, ऐसा व्यक्ति खतरनाक भी हो सकता है। जिसने स्वयं दुःख की अनुभूति नहीं की, वह सामने वालों का दुःख जान पाये, यह कठिन है। बादशाह मौज मस्ती में ही जीवन व्यतीत कर रहा था। कोई रोक–टोक भी थी नहीं। सुरा–सुंदरी में डूबा हुआ था। कोई शिकायत करता तो कठोर आदेश जारी कर देता। जनता त्राहि–त्राहि

कर रही थी पर किसी की हिम्मत नहीं थी कि बादशाह के खिलाफ एक शब्द भी कह सके। कह दिया तो समझिए मौत। ऐसी स्थिति में यदि वजीर सही हो, नकेल हाथ में रखे, तो गाड़ी लाईन पर आ सकती है। पर यदि वजीर भी वैसा ही हो तो भाग्य ही काम आए। परन्तु वजीर ऐसा नहीं था। वह निश्चित था कि बादशाह को सही दिशा में कैसे लाया जाए। एक अवसर ऐसा आया कि वजीर ने कोई अच्छा काम किया, जिससे बादशाह प्रसन्न हो गये और सभा में शाल ओढ़ा कर उसका सम्मान किया। जलसा समाप्त हुआ, वजीर बाहर निकला, उसके नाक में श्लेष्म आया। वजीर ने उसी शाल से पोंछ लिया। हम जानते हैं कि दुनियां में सभी तरह के लोग होते हैं— अच्छे भी और बुरे भी। प्रशंसा से जलने वाले भी होते हैं तो प्रेम करने वाले भी होते हैं। फिर जो ऊँचे पद पर होते हैं, उनके हित–निन्दक कुछ ज्यादा ही होते हैं। वजीर से जलने वाले भी कई थे। बादशाह से शिकायत कर दी कि वजीर आपकी तौहिन करता है। बादशाह ने पूछा— कैसे ? उसने तो सल्तनत के लिए इतना अच्छा काम किया है। "उत्तर मिला आपने तो उसका सम्मान किया पर क्या वह इस लायक है ? आपने कीमती शाल दी पर उसने बाहर जाकर, उससे नाक पोंछ ली। यह तौहिन नहीं तो क्या है ? बादशाह ने वजीर को बुलवाया— "तुमने ऐसा क्यों किया ?" उत्तर मिला— जहांपनाह मैंने आपसे जो तालीम ली हैं, तदनुरूप ही किया है। बादशाह ने कहा— मुझ से क्या तालीम ली ? "हूजूर से जो मैंने सीखा है, वही व्यवहार में उतारा है।" "मैंने कब कहा कि शाल से नाक पोंछना" उत्तर मिला— "हूजूर यह शिक्षा तो नहीं दी पर आप मानते हैं कि दुशाला कीमती है, उससे नाक न पोंछी जाय पर खुदा ने आपको यह जो बहुमूल्य देह दी है, उसे आप किस काम का मानते हैं ? कहीं इससे आप नाक पोंछ डालने जैसा काम तो नहीं कर रहे हैं ? आप सुरा–सुन्दरी में लिप्त रहें, खुदा ने इसलिए तो यह देह नहीं दी है ? श्लेष्म की भाँति विषय–वासना से आप इसे खराब कर रहे हैं। मुझे यही शिक्षा मिली वैसा ही मैंने किया।" बादशाह समझ गये। अज्ञ को समझाना कठिन

नहीं, दुर्विदग्ध को समझाना कठिन है। उसे बोध देने वाले की जान खतरे में पड़ सकती है परन्तु जाणिया को बोध देने में खतरा नहीं।

प्रभु महावीर ने कहा है– विनय पूर्वक गुरु चरणों में धर्म सुन कर, जो दुर्लभ बोध प्राप्त होता है, वह अनेक जन्मों में भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब बोधिलाभ प्राप्त होता है, तब सम–संवेग–निर्वेद की अवस्था बनती है। उस संवेग निर्वेद के आधार पर 'पवेइए नियंठे' वह निर्ग्रन्थ शूरवीरता पूर्वक बोधिलाभ के साथ प्रव्रज्या लेता है। शूरवीरता की क्या भूमिका है, यह समझ लेना भी आवश्यक है।

'प्रव्रजित' शब्द भी महत्वपूर्ण है। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक वर्त धातु से बना है अर्थात् जो प्रकर्ष पूर्वक गति करे। यदि कंधे या माथे पर बोझ है तो पहाड़ पर चढ़ाई अथवा गति करने में अधिक तेजी नहीं रहेगी परन्तु जिसके पास वजन नहीं है, वह जल्दी–जल्दी चल सकता है। प्रकर्ष से उसने संसार का बोझ उतार दिया है। जब परिवार का या दूसरा बोझ नहीं रहा, काम–क्रोध तिरोहित हो गये तो आत्मा जो गति पकड़ेगी, वह प्रकर्ष होगी, प्रशस्त होगी। प्रशस्त याने शुभ, अशुभ नहीं, शुभ में गति। 'पवेइए'– प्रशस्त प्रकर्ष गति से आगे बढेगा। कोई रोकने वाला नहीं होगा। कोई चट्टान नहीं रहेगी। घाटियाँ नहीं रहेगी, क्योंकि वह निर्ग्रन्थ है। गांठे नहीं, लेप नहीं। यदि परिवार माता–पिता, सगे–संबंधियों का परस्पर संबंध हो और वह इसे पकड़े रहे तो ये द्रव्य गांठें बन जायेंगे और वह भाव–निर्ग्रन्थ नहीं बन पाएगा। ईर्ष्या, डाह, काम, क्रोध यदि शिथिल नहीं तो निर्ग्रन्थ अवस्था में तीव्र गति नहीं बनेगी। निर्ग्रन्थ की गति तीव्र होती है, वह एक दिशा में आगे बढने वाला होता है। गौतम स्वामी ने प्रश्न किया था– इस प्रकार की चेतना फिर सियाल की भाँति कैसे हो जाती है ? उत्तर कवि आनंदघनजी की कड़ियों में इस प्रकार है– 'कर्म करम फल कामी रे।'

यहाँ साकार–निराकार चेतना का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है कि वह साकार भेद को, निराकार अभेद को ग्रहण करती है।

कर्मफल से उतार–चढ़ाव भी आते हैं। ऊपर चढ़ने की बात तो आ गई पर दूसरा प्रश्न है– सियाल की भांति कैसे हो जाता है ? तो संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार दिया गया– 'कर्म करम फल कामी रे'– वह भी कैसे ? एक साथ नहीं, उसके पीछे भी विवरण है, कारण है। कवि ने साकार चेतना, निराकार चेतना के साथ तीसरी चेतना की बात भी कही है– कर्म–फल की इच्छुक चेतना। आप में भी तीनों चेतनाएँ हैं। जिसमें मुख्य प्रवृत्ति साकार में है। जहाँ चिन्तन, तर्क, वितर्क, विकल्प नहीं होंगे, वहाँ निराकार है। जो चेतना कर्म फल की ओर उन्मुख होगी, वह कर्म करने व फल भोगने की दिशा में भी सक्रिय बन जायेगी। 'कर्म करम फल कामी रे' साकार–निराकार की पूर्ण व्याख्या को गहराई से समझें। सचेतन पद का प्रयोग भी महत्वपूर्ण है। तीन प्रकार की चेतनाओं का कुछ विवरण भी आया है। इन सारी अवस्थाओं में किसका आविर्भाव हो, किसे जीवन में ज्यादा से ज्यादा आगे बढ़ावें, यह चिन्तन का विषय है।

गौतम स्वामी की पृच्छा थी कि शूरवीरता से संयम ग्रहण करता है पर क्या कारण है कि बाद में सियाल की भाँति हो जाता है अर्थात् आचार–विचार में कायर हो जाता है। आराधना नहीं कर पाता बल्कि जैसे लाश पानी के प्रवाह में बहती रहती है, उसी तरह उसका जीवन भी उतार की ओर बहता चला जाता है। इस प्रकार अभेद–ग्राहक अवस्था में चेतना को कितनी गहराई में ले जा पाते हैं यदि इसे न समझ कर साकार–निराकार से हट तीसरी चेतना में चलते रहें तो द्वय चेतना का पूर्ण जागरण नहीं हो पाता। जब तक अविद्या का मैल है, तब तक व्यक्ति संसार में ही विचरण करता रहेगा। चार गति में परिभ्रमण करता रहेगा। ऐसा व्यक्ति कब ऊपर उठ पायेगा, यह संदिग्ध ही रहेगा। इसलिये यह अपेक्षित है कि इस चेतना को ऊपर उठा कर पूर्ण सचेतन अवस्था में लाने का प्रयास किया जाय।

दि. 29-10-96

१०. दुर्भाग्य की छाया : अविद्या की माया

दुख दोहग दूरा टले रे, सुख सम्पद सूं हेत।
धींग धणी माथे कियो रे, कौण गंजे नर खेट।।
विमल जिन दीठा लोयण आज.........................।
जे कोई उपवइए नियंठे......।

विमल जिनेश्वर इस अवसर्पिणी काल के 13 वें तीर्थंकर हए हैं। उनका जीवन 'विगतः मलः यस्मात्' अर्थात् जिससे कर्म मल विगत, अथवा रहित हो गया हो, ऐसा था। ऐसे जिनेश्वर देव के चरणों में स्तुति के उपर्युक्त बोल अनेक जिज्ञासाओं से भरे हुए हैं। क्या जिज्ञासा हो सकती है ? कवि आनंदघनजी जिस युग में हुए थे, उस समय ऐसे कोई जिनेश्वर विद्यमान नहीं, जिनका कवि दर्शन कर पाता। परन्तु कविता में कहा गया है– 'विमल जिन दीठा लोयण आज'– विमल जिनेश्वर आज लोचन के द्वारा दिखे। कैसे देखा ? वे मौजूद ही नहीं थे और दिखे भी तो उन्हीं को कैसे दिखे ? क्या कवि भावना की उस विहलता में था, जिसमें आत्मा परमात्मा में रमण करने लगती है ? ऐसी स्थिति के बारे में कहा जाता है कि परमात्मा प्रकट हो कर दर्शन देते हैं। क्या कवि के सामने ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हुआ था ? जो भी हो सैद्धांतिक दृष्टि से यह नहीं माना जा सकता कि कहीं परमात्मा अवतरित होते हों। जैन दर्शन आत्मा को ही परमात्मा मानता है। आत्मा ही जब निरंजन निराकार सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है, तब वह संसार में अवतरित नहीं होता। तब कवि ने– 'आज दिखे', 'दर्शन दिये' या 'मैंने देखा', यह बात कैसे कह दी ? एक प्रश्न और भी है– 'दुख दोहग दूरा टल्या रे, सुख सम्पद सूं हेत' पर ये बात कैसे कही कि– दर्शन दिये ? इसे समझने के

लिये हमें पहुँचना होगा, भावात्मक अवस्था में, जिसमें आत्मा इतनी गहराइयों में उतर जाये कि वह परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर ले। तब एक घटना घटित होती है और भक्त अनुभूति करता है कि परमात्मा मेरे समीप हैं, घट में हैं, पास हैं, दूर नहीं हैं। वह अवस्था होती है, शुद्ध आत्म-चिन्तन की। वहाँ सिर्फ आत्म भाव का नजारा होता है, अन्य बातें गौण होती हैं। हमें यह बात कठिन या अनहोनी लगेगी पर अनहोनी नहीं है। व्यक्ति यदि गहराई में उतर जाय, एकमेक अवस्था में चला जाये, तो उसे लगेगा कि मैं परमात्म से भिन्न नहीं हूँ, एकमेक हूँ। कवि विमल भगवान् का स्मरण करते हुए गहराई में उतरे। जैसे टंकी में उतरा जाता है। हम जानते हैं कि टंकी साफ की जाती हैं, साल-दो साल में। यदि उसे साफ नहीं किया जाय तो पानी में बदबू आने लगती है। सब जगहों पर न हो, पर मारवाड़ में पहले ऐसे टांके होते थे। आज तो नल की सुविधा हो गई है पर पहले वर्षा का पानी एकत्र करके रखा जाता था। उसे साल-दो साल में साफ करना होता था। साफ करने के लिए एक व्यक्ति को कमर में रस्सी बांध कर उतार दिया जाता था और अन्य व्यक्ति ऊपर से रस्सी पकड़े रखते थे। वह व्यक्ति गहरे में उतर जाता था। वैसे ही चिन्तन की डोर से कवि के हृदय में अमूर्त जिनेश्वर का, मल-रहित अवस्था का, जो चिन्तन उभरा, उसकी अनुभूति के क्षणों में साधक में आनंद सरोवर लहराने लगता है। कवि उस सरोवर में लीन होकर परमात्मा रूप के अमृत का पान करने लगे तो अन्य अवस्थाएँ विस्मृत हो जाती हैं। मात्र जिनेश्वर की छवि ही दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में कवि कह उठता है– 'विमल जिन दीठा लोयण आज'

त्रिखण्डाधिपति कृष्ण के बड़े भ्राता बलदेव जब साधु बन गये तब भिक्षा के लिए, उन्हें ग्रामों एवं नगरों में प्रवेश करना पड़ता था। एक बार एक घटना घटी। उनके रूप लावण्य को देख कर एक बहिन ऐसी मोहित हुई कि भूल गई कि उसकी गोद में बच्चा भी था। वह पानी भरने कुँए पर आई हुई थी। मोह की अवस्था में घड़े के

दुर्भाग्य भी टल गया। दोनों अलग–अलग चीजें हैं। दुःख अर्थात् पीड़ा की अनुभूति; पर दुर्भाग्य जरूरी नहीं कि पीड़ा के समय हो। घर में पैसा है पर दुर्भाग्य साथ में है तो जहाँ हाथ डाले, सोना भी मिट्टी बन जाता है। कथा आपने सुनी होगी कि कैसे सर्प फूल माला बन गया। पर दूसरों ने हाथ डाला तो सर्प ही मिला। तब फूलमाला कैसे बनी थी ? कभी फूल माला भी सर्प बन जाती है। दुर्भाग्य है तो सामने पड़ा हुआ खजाना भी दिखाई नहीं देता, ओझल हो जाता है। दुर्भाग्य है तो पड़ी चीज हाथ लगती वह उसे भी लांघ जाता है।

एक लकड़हारा जा रहा था। गर्मी का मौसम था, हाथ में कुल्हाड़ी थी। ऊपर से विद्याधर का विमान निकला। उसकी पत्नी ने कहा– "तुम्हारे पास इतनी सम्पत्ति है, उसका दुःख दूर नहीं किया तो वह क्या काम आएगी ? विद्याधर ने कहा– "मैं कैसे दूर करूँ ? दुर्भाग्य उसके पीछे लगा है, वह समझ नहीं पायेगा।" "आप देकर तो देखो" पत्नी ने कहा। कभी–कभी पैसा मिलने से दुर्भाग्य दूर हो जाता है। विद्याधर ने एक चिन्तामणि रत्न मार्ग में डाल दी। उधर उस बूढ़े के मन में आया, अभी तो अपना काम कर सकता हूँ, आज तो आँखें काम करती हैं पर कल नहीं करेंगी तो मैं कैसे चलूँगा ? क्यों न अभी से कुछ अभ्यास कर लूं। उसने आँखें मूँद कर चलने का अभ्यास किया, तब तक रत्न पीछे छूट गया था। विद्याधर ने कहा– "देखा, उसका दुर्भाग्य ! अभी ही उसके मन में ये फितूर आया।" पत्नी ने कहा– "आपने रत्न हाथ में क्यों नहीं दिया, भूमि पर क्यों डाला ?" विद्याधर ने कहा– चाहे गोद में या हाथ में डाल दूँ पर 'जावंतऽविज्जापुरिसा' जब तक अविद्या, दुर्भाग्य से छुटकारा नहीं है, काम नहीं होगा। "अच्छा आप हाथ में दे कर देखिये," पत्नी ने कहा। कुछ दूर जाकर वह वृद्ध वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए रुका। ठंडी हवा के झौंके से झपकी लग गई। इतने में विद्याधर ने रत्न गोद में डाल दिया। आवाज से लकड़हारे को नींद खुली। उसने आँखे बंद किये हुए ही सोचा– मुझ पर गोफण (चिड़ियाँ उड़ाने का साधन) किसने फेंका ? उसने इधर–उधर देखा। कोई दिखाई नहीं दिया।

हाथ में उठाया– अरे ! यह तो चिकना पत्थर है, रख लेता हूँ, बच्चे खेलेंगे। मेरे पास शिला है, यह चटनी पीसने के काम आ जावेगा। अब कुछ कल्पनाएँ करने लगा– यहाँ यदि पानी से भरी बावड़ी होती, फलों से लदा एक बगीचा होता, सात मंजिली बिल्डिंग होती ! विचार करते ही सब कुछ तैयार हो गया। विचार करने लगा– मैं पलंग पर सोया हुआ आनंद मनाता, पलंग भी तैयार हो गया। कितना अच्छा होता, यहाँ नृत्य करने वाली नृत्यांगनाएँ होतीं, वे भी आ गईं। वह नृत्य देखने में मशगूल हो गया। उसने चिमटी काटी ये क्या है ? मैं सोया हूँ या जग रहा हूँ। ये कोई तमाशा है ? नृत्य वाद्य की लय में मस्त बन कर झूमने लगा। विद्याधर की पत्नी ने कहा– "देखा ! आपने दुर्भाग्य सौभाग्य में बदला या नहीं ?" विद्याधर ने कहा– "तुम नहीं जान रही हो, ये ऊपरी अवस्थाएँ हैं। पानी गहरे में नहीं उतरा है, ये अभी स्वप्न ही समझ रहा है।" "आप ऐसा कैसे कह रहे हैं ? सिद्ध करके बताओ।" पत्नी ने कहा।

विद्याधर ने कौए का रूप बनाया और काँव–काँव करने लगा। सोचिये जहाँ सुमधुर संगीत चल रहा हो, वहाँ कौए की कर्कश ध्वनि किसे सुहाएगी ? वृद्ध को आया गुस्सा– इस कालीदास को भी यही समय मिला था ? रंग में भंग डाल रहा है। "आस–पास देखा, कुछ नहीं मिला। उसे याद आया मेरी अंटी में एक पत्थर है, बस चितामणि को फेंक मारा। कौआ रवाना हो गया। जब लकड़हारे ने आँखे खोली तो देखा– कि वह वृक्ष के नीचे था, पास में लकड़ी का भारा पड़ा था। विद्याधर ने कहा–"देख लिया दुर्भाग्य ? दिया तो भी समझ नहीं पाया।"

कवि कह रहे हैं, मेरे दुःख–दुर्भाग्य दोनों टल गये। दुर्भाग्य क्या है ? उस वृद्ध पर तो हमें हँसी आ रही है। हमने उसका निर्णय कर लिया, पर स्वयं का निर्णय कौन करे ? हमारा सौभाग्य है या दुर्भाग्य ? उत्तर यह है कि सौभाग्य दुर्भाग्य दोनों हैं। इस प्रकार–सौभाग्य है कि हमें मनुष्य जन्म मिला, उत्तम कुल मिला, जिनेश्वर की वाणी

मिली, पर दुर्भाग्य यह है कि सब कुछ प्राप्त है पर लाभ नहीं उठा रहे हैं। प्राप्त अवस्था का लाभ न उठायें तो दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। कवि कह रह हैं– यह अविद्या और दुर्भाग्य की छाया दूर हो गई। प्रभु दर्शन में वे इतने गहरे उतरे। यद्यपि प्रभु साकार अवतरित नहीं थे पर कवि की कल्पना और भक्त की आस्था है कि विमलनाथ भगवान् के उसने साक्षात् दर्शन कर लिये। वे सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए थे। उसकी अनुभूति हुई तो कहते हैं, मैंने दर्शन कर लिये। इस स्थिति से एक प्रश्न और जुड़ा हुआ है, साधक सिंह की तरह संयम स्वीकार कर फिर सियार क्यों हो जाता है ? कालान्तर में वैसा पतन क्यों हो जाता है ? इसका उत्तर भी कवि की कड़ियों में आया कि– 'दुर्भाग्य'।

सौभाग्य से योग मिला, सिंह की तरह संयम स्वीकार तो किया पर दुर्भाग्य इस प्रकार छाया कि संयम–रत्न को संभाल नहीं पाया, जैसी लकड़हारे की हालत हुई थी, उसकी भी हालत वैसी ही हो गई। गौतम स्वामी ने पूछा– भगवन् क्या कारण है ?

'विहरेज्ज पच्छाय जहा सुहन्तु' वह यथाछन्द विहारी हो जाता है। पहले का ज्ञान कभी–कभी दुर्भाग्य का कारण भी बन जाता है। वैसे ज्ञान सौभाग्य का कारण है, पर जो मस्तिष्क का ज्ञान है, वह दुर्भाग्य का कारण बन सकता है। मस्तिष्क की बात यह है कि वहाँ तर्क है, पर जब तक वह तर्क हृदय में निवास न कर ले, मस्तिष्क तक ही रहे तो वह कभी दुर्भाग्य का कारण बन जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन में– 22 परिषहों में प्रज्ञा परिषह का भी कथन है। ज्ञान भी परिषह है। समझें, कैसे। विचार कीजिये कि किसी ऐसे व्यक्ति को अचानक खजाना मिल जाय, या जिसे बाप दादा से सम्पत्ति प्राप्त नहीं थी, यदि किसी जरिये से उसके भाग्य के द्वार खुलें, धूल भी सोना बन जाये, तो उसकी क्या दशा होगी ? ब्रेन हेमरेज न भी हो, पर धर्म–ध्यान जरुर छूट जायेगा। ऐसी सोसायटी या महफिल मिल जायेगी कि वह भटक जायेगा। कारण उसके मन की इतनी समायी नहीं कि पचा पाये। भोजन का उदाहरण लें।

जिसकी जठराग्नि मजबूत है, वह तो बहुत कुछ हजम कर लेता है, डकार भी नहीं लेता, दिखावा भी नहीं करता। परन्तु जिसकी जठराग्नि मंद है, उसे तो अजीर्ण हो जायेगा, खट्टी ड़कारें आयेगी। यह हुआ भोजन का अजीर्ण। इसी प्रकार ज्ञान का अजीर्ण है– अहं और तप का अजीर्ण हैं– क्रोध। तप में जो मिले, चाहे प्रशंसा या निन्दा पर आवेग न आये तो समझना चाहिये कि तपस्या को पचा लिया। आवेग आया तो समझो तपस्या पची नहीं। भगवान् महावीर ने कहा– जिसने विनय पूर्वक ज्ञान स्वीकार किया, वह कालान्तर में सोचे कि मैं विद्वान् हो गया, मुझे पाट–पाटले मिलते हैं, आसन–मकान, भाव–भक्ति सब कुछ प्राप्त है; भूखे नहीं रहना पड़ता। यह भी जान लिया कि दुनियाँ को कैसे ठगा जाता है; गुरु कहते हैं, स्वाध्याय करो, पर उनकी शिक्षा तो खूंटी पर टांग दी। बस एक ही काम है, लोगों को कैसे पटाना–छकाना। जिसकी ऐसी मानसिकता हो गई है तथा जिसने ऐसी प्रवृत्ति विकसित कर ली है कि वहाँ काम करो, जिससे स्वार्थ सिद्ध हो, वही कालान्तर में भटकता है। क्योंकि श्रुत ज्ञान का अंकुश उसके हाथ में नहीं होता। जरा सोचिये कि जिसकी डोर हाथ में नहीं, उस पतंग का क्या होगा। वह तो इधर–उधर डोलती रहेगी। वैसे ही वह यथाछन्द हो जाता है। सिंह की भांति स्वीकार करके फिर सियार का आचरण करने लगता है।

प्रभु के उत्तर को सुन कर गौतम स्वामी ने पूछा– "इसका क्या कारण है ?" भगवान् ने उत्तर दिया– "दुर्भाग्य और अविद्या।" अविद्या को व्यक्ति समझ नहीं पाता। बहुत ज्ञानी है पर अविद्या के प्रभाव में भूल जाता है। जब तक उसकी जड़ें मौजूद हैं, वह बख्शने वाली नहीं हैं। कोई रहम करे पर वह तो मौका पाकर झट साया फैलाती है। ठीक वैसे, जैसे शैवाल का टुकड़ा तालाब में फैलता जाता है और इतना फैल जाता है कि पूरे पानी को ढ़क लेता है। अविद्या का यदि उसे ज्ञान नहीं तो दुर्भाग्य के कारण वह सिंह की भाँति पौरुष से सम्पन्न हो कर भी पाप श्रमण की संज्ञा से अभिहित होता है। खाना–पीना, मौज–मस्ती, के साथ स्वाध्याय एवं धर्म

प्रभावना भी केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए करता है। भक्त को पटाता रहता है ताकि काम होता रहे। पटाने के लिये मुंह–मंगली बातें। ऐसे व्यक्ति को साधना में रस नहीं आ सकता क्योंकि दुर्भाग्य उस पर हावी हो गया होता है। दुर्भाग्य को जब तक चीरेंगे नहीं, तब तक परमात्मा के दर्शन नहीं होंगे, विमल जिनेश्वर नहीं दिखेंगे। क्योंकि हमारी इन्द्रियों पर किसी दूसरे का अधिकार हो गया है। कवि कह रहे हैं– धींग धणी माथे कियो रे, कौण गंजे नर खेट। शब्द थोड़े हैं पर गहन भाव से भरे हैं, जिसका अर्थ गहरे में उतरे बिना समझ में नहीं आयेगा।

संयम–जीवन में शिथिल होने वाला तथा प्रतिज्ञा भंग करने वाला सत्पुरुष नहीं हो सकता। वह यथा–छन्द–विहारी कृत्य–अकृत्य का विवेक खो बैठता है। वह मान–प्रतिष्ठा के लोभ में पड़ जाता है। जैसे एक व्यक्ति सोचता है कि अमुक के घर, टी वी., फ्रिज है तो मेरे घर भी होना चाहिये। इस प्रकार ईर्ष्या पैदा होती है। वह यह नहीं सोचता कि दूसरे की औकात है, उसके पास सम्पत्ति है, पर स्वयं के पास कुछ नहीं है, यह नहीं विचारता और देखा देखी में पड़ जाता है। पर कहावत है– 'देखा देखी साधे जोग, छीजे काया वढ़े रोग।' अतः उसे शांति नहीं मिलती है। क्षमता देखी नहीं, दूसरा पैर पसार कर सो रहा है तो क्या तुम भी पैर पसारोगे ? पर पैर बाहर रहेंगे तो ठंडे मरोगे। भाई पैरों को थोड़ा सिकोड़ लो। पर नहीं, सोचेगा, क्यों सिकोड़ूँ ? पैर मेरे हैं। ऐसे में क्या हालत होगी, आप समझ सकते हैं। प्रण–भंग करने वाले साधक का पतन ही होता है।

पहले कहते थे– रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाई पर वचन न जाई। पर आज प्रण भले जाये पर यह समझ लें कि एक बार प्रतिज्ञा टूटी तो फिर प्रतिज्ञा धारण करने की क्षमता नहीं रहेगी। दुर्भाग्य का प्रकोप है, जड़ है, तब तक फल मिलते रहेंगे। कवि के दुःख दुर्भाग्य दूर हो गये तो कवि आनन्दघनजी मस्ती में आ गये। वे कह रहे हैं– मैं सुखी हो गया, सम्पदा भी मिल गई। सम्पदा नहीं तो

सुखी नहीं हो पायेगा। परन्तु वैसी सम्पदा कब प्राप्त हो सकती है ? तब, जब वीतराग निर्देश के अनुसार चलें। यथाछन्द बने रहे तो वीतराग वाणी की अवज्ञा होगी। समाचारी मर्यादा का लोप होगा। ऐसा करने वाला दुःखी होगा। सिंह की भाँति निकला था पर सियार की तरह हो जायेगा। सियार में वीरता नहीं होती। शेर की बराबरी सियारवृत्ति नहीं कर सकती। व्यक्ति भले ही तिकड़म करता रहे, गोटियां फिट करता रहे, बुद्धि से चतुराई करके, छल–कपट करके, भले आजीविका पूर्ति करे पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वीतराग देवों की वाणी की आराधना नहीं कर पायेगा। क्योंकि माया–कपट से आराधना नहीं होती। तीर्थंकर के वचनों के अनुरूप जब भी आराधना होगी तो विमल जिनेश्वर के दर्शन हो जायेंगे। फिर आप और हम सब, बोलने लगेंगे– 'विमल जिन दीठा लोयण आज' ....!

दि. 30–10–96

११. मंगल का मार्ग

सिद्धाणं णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ......।

उपर्युक्त मंगलाचरण में आप्त पुरुषों का स्मरण कर उन्हें नमन किया गया है और उनकी स्तुति की गई है। इसे भाव मंगल माना गया है। मंगल किसलिए ? मंगलाचरण के माध्यम से मंगल की कामना की जाती है पर मंगल किसलिये ? मुख्यरूप से इसलिये कि किसी प्रकार की विघ्न–बाधा न आये, कार्य पूर्णता की दिशा में गतिशील हो और पूर्ण हो जाये। आगमों में भी इस परम्परा का निर्वाह किया गया है और वहाँ एक नहीं, तीन स्थानों पर मंगल करने की बात आती है। तीन स्थानों पर मंगल क्यों ? कहा गया कि प्रथम मंगल है– शिष्य की बुद्धि परिमार्जित रहे अथवा जो अमृत दिया जा रहा है वह अमृत–रूप में ही परिणमन करे, विष–रूप में नहीं। हम जानते हैं कि स्वाति नक्षत्र जब आता है, तब चातक आकाश की ओर देखता है, कब मेघ बरसे और स्वाति नक्षत्र में गिरी बूंद उसके मुँह में आये। वही बूंद सीप के मुँह में मोती बनती है। बाँस के बीच जावे तो वंशलोचन, केले में कपूर और सर्प के मुँह में जावे तो विष में परिणत होती है।

वीतराग वाणी के लिए निर्देश किया गया कि– 'योग्य पात्र के अभाव में इसका रहस्य प्रकट नहीं किया जाना चाहिए।' अन्यथा सोचिये कि बंदर स्वभाव से ही चँचल, फिर उसे शराब पिला दी जाये, तो क्या स्थिति होगी ? वैसी ही स्थिति अयोग्य पात्र की होगी। वैसे ही पात्रता नहीं और अच्छी चीज दे दी तो वह अहंकार–वर्द्धक होगी। मिट्टी की हंडिया, जिसमें आधा सेर रांधा जा सके, उसमें यदि एक सेर डाल दें तो वह फूटेगी ही, सही नहीं रह पायेगी। इसीलिए कहा

गया है– 'योग्य पात्र देखकर ही आगम का मर्म देना चाहिये।' इस कार्य में भी एक परम्परा का निर्वाह होता रहा है। आगमों का ज्ञान गुरु गम चलता रहा है। आगम संस्कृत–प्राकृत–निबद्ध होते हैं, जिनकी गुरु ही वाचना देते हैं। पहले छपाई की सुविधा न होने के कारण वे सहज उपलब्ध नहीं थे, परन्तु अब तो गाँव–गाँव में शास्त्र उपलब्ध हैं। पहले हाथ से लिखी प्रतियाँ भी दुर्लभ थीं और उन्हीं के आधार पर अध्ययन–अध्यापन की परंपरा चलती थी। अब परिवर्तन हुआ है, अब अध्ययन–अध्यापन भी ज्यादा होता है, उस रूप में नहीं पर हिन्दी भाषा में, यद्यपि वह उतना प्रभावी नहीं होता।

आदि मंगल इसलिए किया जाता है कि शिष्य में ज्ञान सही रूप में परिणत हो, विपरीत नहीं। योग्यतानुरूप उसे अध्ययन कराने के लिये वाचनी का प्रसंग रहता था। आज कहा जाता है– हमें गुरु की आवश्यकता नहीं है, शास्त्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आती है, गुरु से पढ़ने की आवश्यकता ही क्या ? लेकिन समझ लें कि अनुवाद में कभी भी मूल जैसी मार्मिकता, गहनता तथा अर्थ गांभीर्य आ ही नहीं सकता। शास्त्र का हार्द अनुवाद में आ गया हो यह भी जरूरी नहीं है। बहुत सी बातें ऐसी भी होती हैं, जो विनय सापेक्ष होती हैं। इसलिये ज्ञान–प्राप्ति के लिए गुरु के प्रति विनय भाव रखना, उनकी आज्ञा मानना, उनमें पूर्ण श्रद्धा रखना तथा उसे नमस्कार करना आवश्यक है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है– 'सिद्धाणं णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।' सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करके, संयतियों को नमस्कार किया है। यह मंगल परंपरा का ही रूप है। मध्य मंगल का प्रयोजन है कि शास्त्र निर्विघ्न पूर्णता पर पहुँचे और अंतिम मंगल इसलिए किया जाता है कि शास्त्र का बीच में विच्छेद न हो। शिष्य–प्रशिष्य परंपरा तक चलता रहे। इसके साथ ही उपधान तप भी शास्त्र–अध्ययन करते हुए करते हैं, ताकि विघ्न न आये, तथा वह आगम वाणी शिष्य के लिए उपादेय हो। उपधान की भी अपनी महत्ता

है। दशवैकालिक सूत्र (9–1–1) में कहा गया है– 'थंभा व कोहा व भयप्पमाया' अहंकारी, क्रोधी, मायाचारी और प्रमादी साधक ज्ञान प्राप्ति के योग्य नहीं है, वह ज्ञान का उपयुक्त पात्र भी नहीं है। क्रोध, अहंकार आदि दुर्गुण चारित्र धर्म को वैसे ही नष्ट कर देते हैं, जैसे बांस का फल ही बांस को नष्ट कर देता है। पात्रता नहीं है तो न मंगल होगा, न कल्याण।

पात्र कौन है ? इसकी भी विवेचना की गई है। पात्र वह है, जो सरलता से बात स्वीकार करें, मित्रों के प्रति अनुराग रखे, क्रोध नहीं करे। ऐसा पात्र मिले तो उसे ज्ञान देना चाहिये। ज्ञान देते हुए परम्परा को अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ाये। बहती गंगा अनेक भवी जीवों को आह्लादित करती है। तपस्या से बीच की विघ्न बाधाएँ दूर हो जाती हैं। जो व्यक्ति निरन्तर दुग्ध, दधि, घृतादि विगयों का सेवन करता रहेगा, वह अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रख पायेगा। उसका मन वश में नहीं रहेगा। मन पर अधिकार नहीं तो आत्मा तक पहुँचने का माध्यम भी विचलित हो जायेगा। माध्यम विचलित हो जायेगा तो केन्द्र तक पहुँचने की ऊर्जा भी प्रादुर्भूत नहीं होगी। इसलिये रसनेन्द्रिय पर विजय पाने के लिए आयम्बिल किया जाय। रूखा–सूखा भोजन, पानी में चूर कर, सारा आहार मिला कर, एक कर लिया जाय। तब भोजन का रूप परिवर्तित हो जाता है। गर्म रोटी, और अलूणा साग खाकर भी मन में संतोष किया जाता है कि रोटी–साग से खा रहे हैं। परन्तु यह रूप आयंबिल का नहीं है। आयंबिल तो वह है कि जो कुछ मिला, उसे चूर कर मिला लें।

धन्ना अणगार कैसा आयम्बिल करते थे, इस पर विचार करें। 21 बार धोने की बात तो है ही, पर आहार भी कैसा होता था ? बचा–खुचा, जिसे सहसा कौए और कुत्ते भी नहीं खायें, वे भी छोड़ कर अलग हो जायें ऐसा रूक्ष आहार। उसे भी पानी से निकाल कर निस्सार, सत्वहीन कर लें, उसमें जायका न रहे, तब उसे ग्रहण कर, वही पानी पीकर तृप्त रहे। श्रेणिक महाराज प्रभु महावीर के दर्शन के

लिए पहुँचे तो पूछा– "भगवन्, आपके इतने साधुओं में कौन महानिर्जरा, महापर्यावसान करने वाला है ?" प्रभु ने कहा– "धन्ना अणगार।" आप भी कह देते हैं– धन्य है, धन्ना अणगार। कैसी हो गई काया ? शरीर कृश हो गया पर तेजस्विता में निखार आ गया ! शरीर दीप्त होने लगा, भीतर का प्रकाश बाहर झलकने लगा। जैसे चिमनी में कालिख नहीं हो तो प्रकाश बाहर दिखाई हेता है। शरीर की हालत यह नहीं कि मन उठकर बाहर आ जाये। बाहर आ जाये तो ग्लानि होगी। धन्ना मुनि, बोलने का प्रसंग आता तो भी सोचते, बोलना पड़ेगा। काफी कमजोरी.आ गई थी। यहाँ तक बताया जाता है कि जैसे भंगार की गाड़ी जब ऊँची–नीची सड़क पर चलती है, उसमें भरे हुए बर्तनों से खड् खड् की आवाज आती है, वैसी ही ध्वनि उठने–बैठने पर उनके हाड़ों से निकलती थी। जीवन पर्यन्त वैसा ही तप किया। आयंबिल तप, जिसे वर्धमान तप भी कहते हैं। यदि अध्यवसायों में उर्ध्वारोहण होता रहे तो शीघ्र ही भीतर रूपांतरण का प्रसंग बनता है। उपवास में तो भाव हो जाता है कि खाना ही नहीं है, पर जहाँ स्वादिष्ट खाने की तैयारी हो, वहाँ मन को रोकना, नीरस आहार, बेस्वाद आहार ग्रहण करना, कितना चल पायेगा ? कठिनाई से व्यक्ति थोड़ा बहुत ही ले पायेगा। वहाँ स्वाद न ढूंढें, शरीर को खुराक दें। इन्द्रियों की दौड़ औदारिक शरीर से रोकें, पुद्गलों की ओर से रोकें तो वह ज्ञान में सहयोगी हो सकती है। यही इनका सही उपयोग होगा। यदि दुरूपयोग किया तो ये संसार में भटकाती हैं। इन्हें सही दिशा में नियोजित कर दिया जाय, आयंबिल तप के माध्यम से तथा अध्ययन–अध्यापन में इन्हें नियोजित करके आंखों को पढ़ने में लगा दें। इस प्रकार जब ज्ञान प्राप्त किया जाता है, तब वह आगे बढ़ता है और मंगल रूप में परिणत होता है।

ज्ञान को जीवन का अंग बनायें, नहीं तो वह ऊपर–ऊपर ही रह जायेगा, जैसे पोशाक। अव्रत दूर नहीं होगा। ज्ञान के फल के बारे में कहा है– 'णाणस्स फलं विरई' विरक्ति नहीं तो वह ज्ञान यर्थाथ नहीं होगा। ज्ञान के लिए पुरुषार्थ इस रूप में किया जाये कि दुःख

दुर्भाग्य दूर हों तथा वह सुख–सम्पद में सहयोगी बनें। कवि ने विमल जिनेश्वर को देखा, एकार्थ साधना नहीं की। अजितनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए कवि ने कहा है–

'नयणा ते दिव्य विचार..., पंथड़ो निहालू रे बीजा जिण तणो रे....।'

चमड़े की आँखें नहीं, दिव्य विचार रूप नेत्र खुलने पर देख पायेंगे। पर वे नेत्र कहाँ से प्राप्त होंगे ? कहा गया है– 'आगम चक्खू साहू'। हमारे ये चक्षु तो हैं ही पर एक आँख और है– आगम। आगम अर्थात् दिव्य विचार–सागर उसे भर लेते हैं तो उसे भीतर के नेत्र प्रकट होना भी कहते हैं। उनसे विमल जिनेश्वर का चिन्तन ध्यान करें तो उस मार्ग पर चलते हुए, जब गहराई में पहुँचेंगे, तब रत्न प्राप्त हो सकते हैं। विमल जिनेश्वर के पथ का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके लिए बुद्धि का निर्मल होना आवश्यक है।

एक राजा से कहा गया कि अमुक व्यक्ति व्यापार–धर्म में इतना प्रवीण है कि इसके सामने कोई भी चीज आये तो यह उसकी कीमत आँक सकता है। किसी व्यक्ति ने परिचय कराया तो राजा को कौतूहल हुआ। उसने आगन्तुक व्यापारी से पूछा– "किसी भी चीज का मूल्य आंक सकते हो ?" व्यापारी ने कहा– "चीज को देख कर आंक सकता हूँ। देखे बिना कैसे आंक सकता हूँ ?" राजा ने आस–पास निगाह डाली तो देखा– राजकुमार खड़ा था। राजा ने कहा– इसका ही मूल्य आंक दीजिये। व्यापारी चक्कर में पड़ गया। मनुष्य का मूल्य, वह भी राजकुमार का, कैसे आंका जाय ? उसका दिमाग काम नहीं कर रहा था। वह सोचने लगा– कैसा दुर्भाग्य पल्ले पड़ा, राजा के दर्शन से। इससे अच्छा था, राजा के दर्शन ही नहीं करता। अब यदि कुछ उत्तर दूं तो राजा पूछेंगे– "क्या आधार है ?" दुविधा में पड़ गया। क्या करूँ, कैसे करूं ? फिर भी व्यापारी था, बुद्धि थी, सोचा और कहने लगा– "मैं चिन्तन में हूँ, राजन् ! मूल्य आंकना है तो समय चाहिये।' राजा ने कहा– ठीक है। एक माह का समय दिया जाता है। व्यापारी घर आया, काफी माथा–पच्ची की पर

मूल्य नहीं आँक सका। भणा था पर गुणा नहीं था। गुरुगम ज्ञान के बिना निर्णायक बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती, गहराई नहीं आ सकती। दूसरे शब्दों में जीवन का मंगलाचरण नहीं हो सकता। मंगल में प्रविष्टि नहीं हो सकती। आत्मसात् नहीं हुआ तो प्रज्ञा/बुद्धि निर्मल नहीं हो सकती। आप आज कंकर–पत्थर का मूल्य आंक सकते हैं– 25 हजार, 5 लाख आदि। इसमें भी बुद्धि लगानी पड़ती है, पर यथार्थ में एक व्यक्ति का मूल्य आंकना कठिन है। आज ऊपर की रौनक से, पोशाक से कह देंगे– पधारो सा. पधारो सा। पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे– 'माया से माया मिले, कर कर लम्बे हाथ' यह इंसान की पहचान नहीं है। यदि भगवान् भी फटे–पुराने चिथड़ों में आये तो क्या कहोगे, पधारो सा ? उजली पोशाक देखी, तो भले ही रिश्ते नहीं हों पर गाड़ी आकर खड़ी हुई तो इर्द–गिर्द कैसे मँडराने लगेंगे ? ये किसकी परख है ? कल तक जो सड़क पर था, आज मिनिस्टर बना तो क्या होने लग गया ? सम्मानित होने लग गया। हो गई परख ? इतनी जनता ने उन्हें तोक लिया, तो हमने भी तोक लिया। मनुष्य की पहचान कठिन है। कल वापस 5 वर्ष में सड़क पर आ जाये तो कितनी कदर करोगे ? आपको अनुभव ही है।

बंधुओ ! राजनीतिक झांसा यही है– हां सा, हां सा ! हां करके, कहके, टरकाते रहते हैं। एक विधायक बनता है, तो वह बेचारा किस–किस का काम करे। एक को मान लो डेढ़ लाख वोटरों ने चुना है। 5 वर्ष में डेढ़ लाख का समाधान, डेढ लाख व्यक्तियों का दुःख–दर्द कैसे दूर किया जाये ? व्यक्तिगत दुःख के लिए वह कभी–कभी सांत्वना तो देता है। चिन्तन करता हूँ तो लगता है, वे तो दूसरे को सांत्वना देते हैं, हम स्वयं को हमने व्यारव्यान सुनकर सांत्वना दी, परन्तु सुनकर जीवन में परिवर्तन किया या नहीं ? एक बात भी अमल में लायें तो परिवर्तन हो सकता है। केवल सांत्वना न दें कि चौमासा करा लिया। जैसे बाढ़ आई तब तो ऊपर पानी ही पानी दिखा किन्तु बाढ़ गई कि सूखा। पानी का उपयोग हमने क्या

किया ? राजनेता दूसरों को भुलावा देते हैं... और हम स्वयं तो अनादि काल से अपने आप को ही भुलावा देते आ रहे हैं। अमल के नाम पर–णमो अरिहन्ताणं। ज्ञान को जीवन का अंग अथवा साथी नहीं बनाया तो रूपान्तरण नहीं होगा। हम सुन लेते हैं। ज्यादा से ज्यादा कान से सुन लिया, मुँह से निकाल दिया, पर ह्रदय में उतारने के लिए कुछ करना–धरना नहीं। ऐसे क्रॉंति घटित नहीं होगी। ऊपर की क्रॉंति तो सिर्फ भ्रान्ति है। जीवन में रूपान्तरण नहीं तो हम अपनी आत्मा को ठग रहे हैं, स्वयं को छलावा दे रहे हैं। वह व्यापारी कीमत आंक नहीं पाया, चिन्ता में शरीर सूखने लगा। किसी ने पूछा– सूख क्यों रहे हैं ? व्यापारी ने कहा– राजा के दर्शन को गया था, रोजे गले पड़ गये। घटना कह सुनाई। सुनने वाले ने कहा– देखो भाई, यहाँ एक बुजुर्ग हैं, उनकी बुद्धि निर्मल है। क्योंकि उन्होंने बुजुर्गों की सेवा से अनुभव प्राप्त किया है। उनके स्वयं के अनुभव भी उसमें जुड़ते गये हैं। आप उनसे मिलिये।" कहते हैं– गरज पडे तो गधे को बाप करे। यूं तो बुजुर्गों के पास जाते या नहीं; पता नहीं। पर प्रसंग आया तो पहुँचे। अपनी समस्या कह सुनाई। बुजुर्ग ने कहा– यह तो हल्की–फुलकी बात है। उसने कहा– मेरे तो प्राण सूख रहे हैं और आप हल्की–फुलकी कहते हैं। एक माह का समय दिया गया है, दिन दो रह गये हैं। बुजुर्ग ने उत्तर दिया– तुम खाओ–पीओ, मस्त रहो। मैं तुम्हारे साथ चलूंगा, समाधान हो जायेगा। मन में सन्तोष हुआ, सच्चा हितैषी दुःख में बंटवारा कर देता है। 'धीरज, धर्म मित्र अरु नारी, आपत काल परखिये चारी।।'

एक व्यक्ति सोचता है, मैं धैर्यशाली हूँ। धैर्यशाली तो वह है, जो तूफान के क्षणों में भी धैर्य रखे। मित्र को अच्छा खाने–पीने को मिले, तब तक तो मेरा मित्र, मेरा मित्र ! आँख–मिचौनी का खेल है, पैसे नहीं रहे, तो सभी पराये। कोई मित्र नहीं, दुःख में अकेले रह गये। लेकिन सच्चा मित्र वह है, जो विपत्ति में भी साथ दे। नारी वही, जो दुःख में भी सहयोगी बनी रहे। नहीं तो एक तो पहले ही अन्तराय

कर्म से दुःखी, फिर भोजन करने बैठे तो दस चीजों के साथ और क्या परोसेगी ? दस बातें सुनायेगी। यदि यह स्थिति है तो समझिए उसने धन से विवाह किया है, पति से नहीं। धन–सम्पत्ति हो तो पति भी प्यारा, नहीं तो वह भी पराया लगता है। लेकिन जब विपत्ति की स्थिति बनती है, तब वह भी चाहता है, मुझे सहारा मिले और कोई हितकारी बने। यह बोध हो जाय कि उपकारी का उपकार मानना चाहिए, तब भी ज्ञान प्राप्ति का स्वरूप उजागर हो सकता है। नहीं तो आज व्यक्ति माता–पिता के प्रति भी कर्त्तव्य भूल जाता है।

स्थानांग सूत्र में कहा गया है कि तीन के ऋण से कभी भी उऋण नहीं हुआ जा सकता। ये तीन हैं– माता–पिता, गुरु एवं वृतिकान्तार में सहयोगी बनने वाला। यदि जीते जी इस शरीर की चमड़ी इन्हें समर्पित कर दें तो भी इनसे उऋण नहीं हुआ जा सकता। माता–पिता ने बीज दिया, जिनकी बदौलत यह शरीर खड़ा है, उनका उपकार भूलना क्या उपयुक्त है ? गुरु ने ज्ञान चक्षु दिये, तीसरा नेत्र खोला है। कोई कहे गुरु ने कौनसा उपकार किया तो समझ लेना चाहिये कि वह ज्ञान के योग्य नहीं है। तीसरा उपकारी जो जंगल में मरणासन्न अवस्था में सहयोग दे। उससे भी उऋण नहीं हुआ जा सकता। उसके प्रति उपकार नहीं मानने वाला कृतघ्नी होता है। उपकारी के प्रति उपकार भाव रखने वाला, कभी गलत मार्ग पर नहीं जायेगा। यदि चला भी गया तो सही समय पर मार्ग पर भी आ सकता है। क्योंकि उसमें प्रत्युपकार का भाव बना रहता है। यदि यह भाव उसने गौण कर दिया है तो वह कृतघ्नी है।

वह व्यापारी बुजुर्ग के पास पहुँचा, सहारा मिला। वह उनकी सेवा करके उनके अनुभव लेता, उनकी टिप–टॉप करता। बुजुर्ग ने कहा– 'यह मत समझना कि तुम टिप–टॉप करोगे तभी सहयोगी बनूंगा, यह तो मेरा कर्तव्य है। जिस दिन अवसर है, मैं चलूंगा।' वह समय भी आ गया। दोनों राज–सभा में उपस्थित हुए। राजा ने कहा– महिना पूर्ण हो गया राजकुमार की कीमत बताइये। उस

बुजुर्ग ने कहा– आप फरमा रहे हैं तो कीमत आँकी जा सकती है। पर मैं पहले राजकुमार को देखना चाहूँगा। आप भी पहले देखते होंगे। पैसों से ही संबंध नहीं हो जाता। राजकुमार को उपस्थित किया गया। बुजुर्ग ने खड़े हो कर चारों ओर से राजकुमार को निरखा। उसके पश्चात् उसने राजकुमार के मस्तक पर हाथ रखते हुए कहा– "हुजूर, मैं कीमत आंकूं पर आप नाराज तो नहीं होंगे ?" राजा ने बुजुर्ग को आश्वस्त कर दिया। हम जानते हैं कि जिसकी बुद्धि निर्मल होती है, उसके लिये कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। मार्ग निकल ही आता है। बुजुर्ग ने राजकुमार के ललाट पर हाथ रख कर कहा– "हुजूर इसका तो मैं कह नहीं सकता, पर इसे छोड़कर इसकी दो आने से अधिक कीमत नहीं है।" राजा विचार में पड़ गया; किन्तु फिर समझ गया। इसके भाग्य की कौन कह सकता है ? गुदड़ी का लाल, जिसके भाग्य में जो होता है, वही मिलता है। 'अच्छा भाग्य होता है तो सड़क पर घूमने वाला भी करोड़पति बन जाता है। इसलिए भाग्य का कुछ कहा नहीं जा सकता। बाकी शरीर तो दो आने का है, क्योंकि यदि वह रोजगारी करे तो दो आने से ज्यादा का कार्य नहीं कर पायेगा। थक जायेगा। पसीना आने लगेगा। बुजुर्ग ने यह कार्य कर लिया। जब विमल जिनेश्वर के दर्शन हो जाय तो न जाने किसे ज्ञान मिल जाय। कभी छोटा बालक भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है, कभी बुजुर्ग भी बैठा रह जाता है।

एवन्ता मुनि छोटे बालक ही थे, ध्रुव छोटा बालक ही था। जा रहा था। नारद ने पूछा– "कहाँ जा रहे हो ?" प्रत्युत्तर मिला– "परमात्मा की खोज में ?" प्रश्न किया गया– तुम क्या जानों ? बच्चे हो, जाओ, खेलो। ध्रुव ने जवाब दिया– "मुझसे माता ने कहा है तो परमात्मा की गोद मिलेगी ही। पिता की गोद से विमाता ने हटा दिया तो परमात्मा की गोद में बैठूंगा।" रामायण का प्रसंग आता है– जटायु को रावण ने पकड़ लिया, उसके पंख काट डाले, वह गिर पड़ा। राम ने उसे देखा, हाथ फिराया, गोद में लेकर राम कहने लगे – जटायु ! तुम चाहो तो तुम्हारे स्वर्ण के पंख लगा दूं। पर जटायु ने कहा–

१२. समर्पण और सिद्धि

यह व्यवहार का सत्य है कि प्रयोजन के बिना मंद से मंद बुद्धि वाला व्यक्ति भी प्रवृत्ति नहीं करता। जो भी प्रवृत्ति होती है, वह सहेतुक होती है, निर्हेतुक नहीं। सहेतुक अर्थात् उसके पीछे कोई न कोई कारण अथवा उद्देश्य अवश्य होता है। उसी के आधार पर कार्य की निष्पत्ति होती है।

कवि आनंदघनजी कहते हैं– विमल जिनेश्वर के दर्शनों के साथ– 'म्हारा सिध्या वांछित काज' मेरी कामना के अनुसार आज मेरा कार्य सफल हो गया। प्रश्न होगा– उनकी कामना क्या थी ? कामनाएँ, अभिलाषाएँ, अनेक होती हैं। उनका अन्त नहीं है– 'इच्छा हु आगास समाणंत्तिया' (उत्तराध्ययन सूत्र 9/48) इच्छा का छोर नहीं। उनकी सीमा नहीं। एक इच्छा पूर्ण होते–होते तत्काल दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है। सिलसिला ऐसा बढ़ता है कि उनका कहीं अंत ही नहीं आता। पर आश्चर्य है कि 'विमल जिनेश्वर' के दर्शन होते ही कवि कहते हैं– 'म्हारा सिध्या वांछित काज', कैसे सिद्ध हो गया ? किसी की कोई कामना पूर्ण हो तो वह प्रफुल्लता से झूम उठता है। भावना सफल हो जाती है।

'सिद्धाणं णमो किच्चा' अत्यंत अर्थगर्भित सूत्र है। यहाँ कामना नहीं है, यहाँ समर्पण है। कवि जो कह रहे हैं कि कार्य सिद्ध हुआ, तो वह कैसे व कब सिद्ध हुआ ? इस सम्बन्ध में वे कहते हैं– 'धींग धणी माथे कियो रे' दुःखों से झुलस रहा था, दुर्भाग्य की काली छाया पीछा नहीं छोड़ रही थी। बड़ी तमन्ना थी कि मुझे सुख–सम्पत्ति मिल जाय। जितना मैं उसके पीछे भागा, वह छाया बन आगे–आगे भागती रही। मैंने पकड़ने की कोशिश की पर छाया हाथ नहीं लगी। हाथ

लगा, दुःख–दुर्भाग्य। मैं हैरान–परेशान हो गया। सोचने लगा– कब तक पीछे भागता रहेगा, ये छाया है, हाथ नहीं आयेगी। जैसे ही यह बोध हुआ, मैंने उधर पीठ कर दी। चारों ओर से थक कर परेशान हुआ तो मैंने स्वयं को समर्पित कर दिया। व्यक्ति पहले स्वयं की सुरक्षा का प्रबंध करता है। हम जानते हैं कि इस दुनियाँ में सभी देश शांति की बात करते हैं। प्रत्येक देश शांति की कामना करता है। पर शांति कैसे प्राप्त हो ? बात तो करते हैं– शांति की, पर सुरक्षा के नाम पर बारूद इकट्ठा करते हैं ! उस बारूद के ढ़ेर पर शांति का नारा बुलन्द किया तो क्या शांति प्राप्त हो सकती है ? सुरक्षा के नाम पर युद्ध के लिए विस्फोटक पदार्थो का संग्रह करते हैं और चाहते हैं शांति। इस स्थिति में शांति–सुख कैसे मिलेगा ?

कवि भी कह रहे हैं– पहले मैंने बारूद इकट्ठी कर ली कि प्रसंग आया तो इससे सुरक्षा प्राप्त होगी। पर देखा जितनी व्यवस्था सुरक्षा के लिये की, दुःख–दुर्भाग्य उतना ही बढ़ता गया और सुख की छाया, उतनी ही दूर होती गई। मैं हताश हो गया। मैंने इतना इकट्ठा किया पर शांति नहीं मिली तो इस तैयारी का क्या मतलब ? मैंने स्वयं को शिथिल कर दिया, समर्पित कर दिया। धींग धणी कौन ? धींग मेवाड़ में तो गोत्र है पर कवि कहते हैं, मैंने निराश हो कर एक बलिष्ठ को अपने सिर पर आरोपित कर लिया अर्थात् मैंने सर्वस्व उनको समर्पित कर दिया। 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।'– तुम्ही मेरे माता–पिता–बंधु और सखा हो। फिर मैं झूम उठा, देखा दुःख दूर हो गया। सुख का संचार हुआ। जिसके पीछे भागा, वह सम्पदा मिल गई। अब मुझे भरा–भरा लग रहा है। रिक्तता और हताशा दूर हो गई। हमें लग सकता है कि ये कथाओं, आगमों, कविताओं की कल्पनाएँ हैं, यथार्थ में घटित नहीं होतीं। पर हमारा सोचना गलत है। हम केवल सुनने की इच्छा ज्यादा रखते हैं, खोज नहीं करते। गहरे में पैठे बिना, बोध–संतोष प्राप्त नहीं होता। गहरे में उतरे बिना मोती नहीं मिलते।

एक दृष्टांत है। गुरु और शिष्य टहलते हुए समुद्र के किनारे पहुँचे। शिष्य ने सुन रखा था, सागर गंभीर और गहरा होता है पर उसकी दृष्टि पड़ी तो गुरुदेव से कहने लगा– "गुरुदेव ! ये क्या पानी में आग लग गई ? मतलब अब तक सुना था, सागर गंभीर होता है। तीर्थंकरों को उपमा दी गई है– 'सागरवर गंभीरा' पर मैं देख रहा हूँ कि सागर में तरंगें उठ रही हैं। सागर में गांभीर्य होता है पर यह तो छलक रहा है। फिर गंभीर कैसे ? तीर्थंकर को इससे उपमित कैसे किया गया ? गुरुदेव हल्की सी मुस्कान के साथ कहने लगे– वत्स ! तुम केवल ऊपर–ऊपर ही देख रहे हो, समुद्र के हार्द को प्राप्त नहीं कर पा रहे हो। केवल शब्दों को पकड़ रहे हो, गहराई में नहीं उतर पा रहे हो। समुद्र में तरंगों का आना आवश्यक है, तरंगें न हों तो वह गहराई, श्रेष्ठ गहराई का रूप नहीं ले सकती। तरंगों का होना आवश्यक है। शिष्य कुछ समझा नहीं। गुरु कहने लगे– वत्स ! ये भी निरर्थक नहीं हैं, आवश्यक हैं। यदि तरंगें न हों तो हर व्यक्ति गहराई में पहुँच कर उसके अंचल में रहे रत्न ला सकता है, इसे खाली कर सकता है। तरंगों के होते जो गहरे में पैठेगा, वही रत्न प्राप्त कर पायेगा। गहरे में जाने के लिए परिश्रम करना होगा। उत्ताल तरंगों से संघर्ष करना पड़ेगा। फिर गहरे में उतर गया तो अक्षय निधि प्राप्त हो जावेगी। ये तरंगें कोष की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। ये समुद्र का स्वभाव नहीं है, ये तो सुरक्षा के लिए हैं। इन्हें देख कर व्यक्ति विचलित होता है। हमारे भीतर भी भाव तरंगें उठती हैं, यदि व्यक्ति इनमें झूलता रहे तो गहरे में नहीं उतर पायेगा।

गीता में कहा गया है– 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज,' प्रभु महावीर ने कहा– 'अरिहंते सरणं पवज्जामि'। बुद्ध या उनके उपासकों ने कहा है– 'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'।

श्री कृष्ण कह रहे हैं– सबको छोड़, मेरी शरण में आ जाओ। वहाँ बुलावा है। प्रभु महावीर बुलावा नहीं दे रहे हैं बल्कि उसके भीतर ही पैदा कर रहे हैं कि अरिहंत की शरण प्राप्त करो। एक बुलावा है,

एक भीतर की आवाज। एक रस्सी का प्रथम छोर है तो दूसरा अंतिम छोर। यदि समाधान में पहुँचे तो उन्हीं में ग्रहीत हैं। दोनों में अंतर नहीं है। आप विचार करेंगे– हम साक्षात् देख रहे हैं फिर अंतर कैसे नहीं है। जहाँ से ये स्वर उद्धृत हुए हैं– द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, आज वे चारों नहीं हैं।

यदि श्री कृष्ण को त्रिखंडाधिपति न मानकर तीर्थंकर या परमात्मा के रूप में लें कि वे कह रहे हैं– सारे धर्म को छोड़ कर मेरी शरण में आओ', पर साधक कह रहा है, मैं आपकी शरण में आता हूँ। हम बोलते हैं– 'अरिहंते सरणं पव्वजामि– 'मैं अरिहंत की शरण स्वीकार करता हूँ," पर क्या वे तुम्हें स्वीकार करते हैं ? क्या वे कभी कहते हैं कि मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ, वहीं समाधान होगा। क्यों नहीं कहा अरिहंतों ने कि मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ ? क्योंकि द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव चतुष्ट्य नहीं था। जिस समय प्रभु ने बात कही, वह श्रद्धा का युग था, भोली जनता दाँव–पेंच नहीं जानती थी। जैसा कहा, वैसा कर लिया।

प्रभु ऋषभदेव के शिष्यों से कहा जाता कि ऐसा करना है तो वे वैसा ही करते, उससे आगे प्रज्ञा कार्यरत नहीं होती। जैसे कहा गया– "नट का नृत्य नहीं देखना" तो आज्ञा पालन करते हुए नटी का नृत्य देखने खड़े हो गये। इतना तर्क नहीं किया कि नट का नहीं देखना तो नटी का तो देखना ही नहीं। यह बताया तो कहने लगे– तहत्। अन्नदाता बड़ी कृपा की। यह थी– सरलता, भोलापन। दूसरा युग आया– नट का खेल नहीं देखना, नटी का देख लिया। पूछा गया तो कहने लगे– आपने तो बताया ही नहीं। कितना अंतर है– द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में ? इसलिए कहना पड़ा– 'अरिहंते सरणं पवज्जामि।' साधक कहता है– "स्वीकार करता हूँ।" यदि कोई कहे मेरी शरण में आ जाओ तो कहेंगे, क्यों चले आयें, क्या यही सब कुछ है ? तर्क विकसित होगा। इसलिए साधक कहता है– अरिहन्त की शरण ग्रहण करता हूँ। यदि अरिहंत कह दे, मेरी शरण में आओ तो

उसे शंका होगी कि यह कह रहा है– 'आ जाओ' तो कहीं इसमें अहं की गंध तो नहीं है। इसलिए तीर्थंकर मौन रहते हैं। साधक ही कहता है– मैं शरण स्वीकार करता हूँ। यथार्थ में स्वीकार हो तो वहाँ रूपान्तरण होगा। हम जानते हैं कि विज्ञान शोध करता है। सूत्रों को लेकर आगे बढ़ता है। इसमें मर्म क्या है ? धर्म ग्रंथों में उसे महत्ता क्यों दी गई ? धर्म गुरु या धार्मिक कहलाने वाले, वहाँ नहीं पहुँचे पर जो पहुँचे, उन्होंने खोज की है।

रॉबर्ट पावलिय ने गहरी खोज की। उन्होंने समझ लिया कि सबसे पहले काया का प्रयोग करें, फिर आगे सूत्र पकड़ पायेंगे। सीधे आत्मा या मन तक पहुँचना कठिन है। उन्होंने देखा– एक व्यक्ति खड़ा है, एक व्यक्ति बैठा है। उनके भीतर जो विचार चलने लगे– उनमें अंतर है। उन्होंने प्रयोग किया, प्रयोग विचित्र था। कोई व्यक्ति यदि तनाव में है तो उसे दूर कैसे करें ? कोई व्यक्ति यदि मानसिक रोग से रूग्ण है तो उसे कैसे ठीक करें ? वे एक–एक सूत्र पकड़ कर खोज करते–करते पहुँचे तो एक फार्मूला ईजाद किया– जो रोगी तनाव से ग्रस्त हैं, उसे एक स्वस्थ गाय के नीचे सुला दिया जाता। चित्त लिटाने के पश्चात् उससे कहा जाता– सारे शरीर को शिथिल कर दो। यह वही क्रिया है योग शास्त्र की दृष्टि से, जिसे योग निद्रा कह सकते हैं। फिर उसके भीतर भावना का संचार किया जाता। रॉबर्ट पावलिय ने कहा– तुम अपने में यह भावना करो कि मैं स्वस्थ हूँ, मैं स्वस्थ हूँ। गाय की ऊर्जा मेरे भीतर प्रविष्ट हो रही है, मेरा रोग दूर हो रहा है, मैं निरोग हो रहा हूँ। प्रयोग करके 5 मिनट बाद यंत्र में परीक्षण किया गया तो पता चला कि 5 मिनट पूर्व जो मानसिक तनाव था, वह समाप्त हो गया था। किसी को तेज ज्वर हो तो वह बर्फ–शिला के प्रयोग से नॉर्मल स्थिति में आ जाता है, स्वस्थ हो जाता है। कई ऐसे व्यक्ति जिनमें इतनी थकान होती है कि उठना नहीं, पड़े रहना चाहते हैं, उन पर प्रयोग किया गया तो देखा गया कि 5 मिनटों में उनमें स्फूर्ति आ गई। किसी व्यक्ति ने रॉबर्ट

पावलिय से कहा– आप सुला कर प्रयोग करते हैं, क्या बैठे–बैठे भी किया जा सकता है ? उसने कहा–हाँ, हो सकता है। पर जो कार्य सोने में 5 मिनट में हो सकता है वह बैठने पर उतना शीघ्र नहीं होगा। जब तक उसके चारों ओर सुरक्षा की दीवार या विश्वास न बने, स्वस्थ नहीं किया जा सकता। विचारों की दीवार को ढहाना पड़ेगा। विचार की दीवार ढ़ह जायेगी, तभी वह स्वस्थ होगा। अरिहंते सरणं पवज्जामि यह विचार की दीवार को ढ़हाने के भाव हैं। चार–दिवारी से घिरे रहे, तब तक दुःख दुर्भाग्य दूर नहीं होगें, सुख प्राप्त नहीं होगा। उस दीवार से बाहर छलांग लगानी होगी। तभी सुख प्राप्त होगा।

एक महात्मा उपदेश दे रहे थे। परमात्मा पर विश्वास की बात कह रहे थे। दूसरे दिन एक बहिन दूध लेकर देर से पहुँची, महात्मा ने पूछा क्या बात है। बहिन ने कहा– नदी में पूर था, नौका नहीं मिली, इसलिए विलम्ब हो गया। महात्मा ने कहा– "परमात्मा के नाम का विश्वास रखकर चली आतीं। उसने विश्वास कर लिया। दूसरे दिन भी नदी में पूर था पर परमात्मा का नाम लेकर चली और जल्दी पहुँच गई। महात्मा ने पूछा– आज जल्दी कैसे आ गई ? उसने बताया– मुझे परमात्मा के नाम से मार्ग मिल गया।

जन्माष्टमी के प्रसंग की बात हम सब जानते हैं– वसुदेव कृष्ण को लेकर पहुँचे, यमुना में उफान आ रहा था। लेकिन कृष्ण के अंगूठे का स्पर्श हुआ तो मार्ग मिल गया। कथा का यह प्रसंग हमें अतिरेक लगता है पर वर्तमान काल में भी कहते हैं कि चन्द्रकान्त मणि से मार्ग मिल जाता है। हम उस प्रसंग को चाहे जिस रूप में लें पर वह बात अर्थ, देश, काल के अनुसार है। यदि विश्वास हो, तो कार्य सम्पन्न होता है।

कवि आनन्दघन जी कह रहे हैं– जब तक हमने सुरक्षा की दीवार बना रखी, छाया बना रखी तब तक कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ।

पर जब मैंने परमात्मा को स्वामी बना लिया, मैंने उनकी शरण स्वीकार कर ली, तब वे दुःख–दुर्भाग्य उल्टे पाँव भागे, टिके ही नहीं। सुख–सम्पद का स्रोत प्रवाहित हो गया। अब कोई चिन्ता नहीं रही। क्योंकि धींग धणी को अपने माथे पर कर लिया तो उनकी क्षमता–शक्ति से दुःख–दुर्भाग्य स्वतः दूर हो गये। इकट्ठी की हुई वारूद को वाहर फेंका तो परमात्मा ने सहारा दिया। जैसे डूवते को नौका का सहारा मिल गया। सहारा नहीं मिले तो वह कितने ही हाथ–पाँव मारे पर तैरेगा नहीं। व्यक्ति सोचता है, दीवारों से मेरी सुरक्षा होगी, पर यह विचार ही भूल है। शरण स्वीकार करना है तो दीवार ढ़हानी पड़ेगी।

रॉबर्ट पावलिय ने सुलाने की बात कही है। यह शवासन की प्रक्रिया भारतीयों की है, पर हमने उसका लाभ नहीं उठाया। लाभ उठाया, उन पाश्चात्य विद्वानों ने। फ्रॉयड मनोचिकित्सा करते हैं। वे कहते हैं– जब पहले मैं सामने बैठ कर बातें करता था, तब रोगी बात खोल नहीं पाता था। पास में बैठा तो भी खुल नहीं पाता था, लेकिन जब बीच में पर्दा लगा कर मैं स्वयं ओट में बैठ गया और जैसे ही व्यक्ति ने सारे अंगों को शिथिल किया, मुँह से सारे अपराध, स्वीकार कर लिये। रोगी की यह क्रिया ऐसी थी, जैसे वह अकेले स्वयं से बात कर रहा था। अपने सामने अपने अपराध स्वीकार कर लेने में किसी को संकोच नहीं होता। यहाँ फ्रायड पर्दे के पीछे था। व्यक्ति के बीच यदि उसकी उपस्थिति का दायरा होता तो वह संकोच की दीवार गिरा नहीं पाता। लेकिन जब देखा कोई नहीं है तो उसने सारी दीवारें गिरा दीं। शांत हो गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समर्पणा के सूत्र का प्रथम चरण शवासन है। तनाव शांत करना है तो व्यक्ति आनंद केन्द्र में ध्यान लगावे। व्यक्ति शिथिल हुआ कि सारे तनाव भी शांत। वैज्ञानिकों ने यह प्रयोग किया तो हमने भी माना कि शरण स्वीकार करने में, दीवार ढ़हाने में बहुत तत्व है अन्यथा 'अरिहंते सरणं पवज्जामि' तो हम कब से कहते आ रहे हैं। महात्मा से बहिन ने कहा– आपके कथनानुसार मैं परमात्मा पर विश्वास करके चली

आई। महात्मा के एक शिष्य ने सुना, उसके मन में प्रयोग करने का विचार आया। वह कुछ कहे बिना चल पड़ा। 'णमो अरिहंताणं' कहकर नदी में पैर रखा। णमो अरिहंताणं का उच्चारण कर कदम बढ़ाता गया। आगे बढ़ता गया। पानी कंठ तक आ गया, उसे लगा, अब मैं मरा। अरे, वह बहिन तो कुछ और कह रही थी, पर मैं बचूँगा नहीं, वापस लौट गया। महात्मा के पास पहुँचा, कहने लगा– आप कहते हैं, परमात्मा के नाम में इतनी शक्ति है कि नदी पार की जा सकती है ? महात्मा ने कहा– बात सही है। नाम–स्मरण कर जब भवसागर से पार हो सकते हैं तो नदी क्या चीज है। शिष्य ने पूछा– फिर मैं क्यों तिर नहीं पाया। महात्मा ने प्रश्न किया– तुमने क्या उपाय किया था ? उत्तर मिला– मैं जैसे ही नदी के निकट पहुँचा 'णमो अरिहंताणं' का उच्चारण किया, णमो अरिहंताणं कहता हुआ बढ़ता गया। महात्मा ने उत्तर दिया– यही तो कमी थी। तुम्हारे मन में संदेह था। एक–एक पग पर णमो अरिहंताणं बोलते गये। पर अरिहंते सरणं पवज्जामि, या 'सिद्धाणं णमो किच्चा' से भाव–समर्पण कर दिया होता तो यह नौबत नहीं आती। बहिन से पूछा गया– तुमने क्या किया ? उसने कहा– परमात्मा तो भवसागर से तिराते हैं तो नदी से क्यों नहीं तिराएंगे। नाम लिया और धड़ल्ले से बढ़ती गई। आगे–पीछे नहीं देखा। सोचिये, आगे–पीछे देखते रहें तो काम कैसे होगा ? परमात्मा सहयोगी कैसे बनेंगे ? सिद्ध प्रभु को नमस्कार करना है– भाव से; ये नहीं कि ऊपर से नाम लेते रहे। नाम हृदय की गहराई से लें। नाम तो महात्मा के शिष्य ने भी लिया था पर लाभ नहीं हुआ। बहिन ने एक बार समर्पण भाव से नाम लिया तो पार हो गई। हमारे यहाँ जंघाचरण, विद्याचरण मुनि का वर्णन आता है। वे एक बार 'णमो अरिहंताणं' बोले कि कार्य हो गया। जब भीतर ऐसा विश्वास बनता है, तब ही सफलता मिलती है। मुख्य वस्तु आस्था, विश्वास और समर्पण है।

एक धावक नदी किनारे जाकर सोचे कूदूं या नहीं, तो क्या पायेगा ? लगा दी छलांग, तभी तिरने की कला सीख पायेगा।

प्रकार जब तक समर्पण की छलांग नहीं, तब तक परमात्मा तक नहीं पहुँचा जा सकता। समुद्र में लहरें उठ रही हैं, पर गहराई में नहीं उतरे तो क्या मिलेगा ? वैसे ही ऊपर–ऊपर से देखकर कहें– नमस्कार मंत्र में क्या चमंत्कार है तो चमत्कार कैसे घटित होगा ? सुदर्शन, सीता आदि की कथाओं में आप सुन चुके हैं कि कैसे शूली का सिंहासन बन गया, और अग्नि शीतल हो गई। आप विश्वास नहीं करेंगे, सोचेंगे कि पहले ऐसा होता था तो आज क्यों नहीं होता ? आज विश्वास नहीं है, गहरे में नहीं उतरते। तरंगों में झूलते रहे तो कुछ नहीं मिलेगा। 'धींग' अर्थात् समर्थ स्वामी को सिर पर कर लो, उसकी ज्योत्स्ना आपको प्रकाशित करेगी। जैसे रॉबर्ट पावलिय ने उस व्यक्ति को स्वस्थ गाय के नीचे रखा तो गाय की ऊर्जा से व्यक्ति स्वस्थ हो गया, वैसे ही समर्थ स्वामी की किरणों से कवि के दर्द मिट गये। वहाँ शस्त्र–अस्त्र उठाने की जरूरत नहीं, चाहे कुछ भी सामने आये, विजय मिलेगी ही। कौण गंजे याने माथा और खेट का तात्पर्य है दुर्जन अर्थात् फिर कोई खल नहीं आयेगा, फिर उसकी क्या हिम्मत कि आँख उठाले। ये क्रोध, मान, माया और लोभादि खल हैं। समर्थ स्वामी नहीं तो ये सजग हो जाते हैं। जब तक बारूद इकट्ठा करने में समय गंवाया, तब तक सुरक्षा नहीं हुई। पर जब समर्थ को स्वामी रूप में स्वीकार कर लिया, स्वयं को समर्पित कर दिया, तब उकसाते और बुरी नजर डालते क्रोध आदि खल परास्त हो गये। पास आने से घबराने लगे, दूर से ही भाग गये। समर्पण के सही तौर–तरीकों से इलाज करें, तभी स्वस्थ होंगे। दुःख–द्वंद्व नहीं रहेंगे।

हम जो भी कार्य करते हैं, उसके पीछे कोई हेतु होता है। कवि ने भी कहा है, मेरी सफलता में हेतु था। मैंने आश्रय लिया तो चामत्कारिक परिवर्तन हुआ। ऐसा परिवर्तन हमारे भीतर भी हो सकता है। अहमदाबाद वाले रोशनलालजी मेहता ऐसे ही परिवर्तन के कारण डाकुओं के बीच फँस कर भी सुरक्षित बच गये। ये अवस्थाएँ ऐसी हैं कि जब तक हम इनमें गहराई से न उतरें, लाभ नहीं मिलेगा। तरंगों

में ही झूलते रहेंगे तो कुछ मिलने वाला नहीं है। कभी–कभी कहा जाता है– गुरु के भीतर भी ऐसा प्रसंग उपस्थित हो सकता है किन्तु वह भी शिष्य के हित के लिए होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है– गुरु शीतल या कठोर, कैसी भी शिक्षा दे, उसमें भी हित निहित होता है। हम उसे समझ नहीं पाते। हमने जब समर्पण कर दिया है, तब यह उनका कर्त्तव्य है कि वे हमारा हित देखें। यद्यपि परमात्मा हमारा कुछ नहीं करेंगे पर उनकी करुणा का आभा–मंडल ही ऐसा है कि उसमें किसी भी खल–दृष्ट आदि का प्रवेश नहीं हो सकेगा। गुरु का आभा मण्डल साढ़े तीन हाथ का बताया गया है। उसमें प्रवेश से पूर्व अनुमति लेकर विधि को जान लें, फिर प्रवेश करें तो बात हितकर होगी। समर्पण के पश्चात् सुरक्षा का दायित्व उन पर आ जाता है। वे ही माता–पिता बन्धु और सखा रूप हैं, ऐसे भाव बनें तो फिर वहाँ अजस्र शक्ति का स्रोत प्रवाहित होगा। ये भाव हमारी सुरक्षा में कारणभूत होंगे। जैसे समुद्र की गहराई से रत्न प्राप्त होते हैं, वैसे ही अपने भीतर की गहराई में श्रद्धा और समर्पण का प्रस्फुटन होगा, तभी सच्चे आनंद की अनुभूति होगी।

कवि आनंदघनजी भी कह गये हैं– धींग धणी माथे कियो रे। हम भी कहते हैं– अरिहंते सरणं पवज्जामि। कृष्ण का उद्घोष है– सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज। इसी गहराई में पहुँचे– यह शरण, यह समर्पण, यह आस्था ही समुद्र की गहराई है। ऊपर की उत्ताल तरंगों से भयभीत न हों। गहराई में गति करें। गति करेंगे तो 'स्व' स्वरूप में स्थापित होकर आनंदित हो पाएंगे।

दि. 1–11–96

१३. दृष्ट पदार्थ में निर्वेद का महत्त्व

देवाधिदेव श्रमण भगवान् महावीर भव्य आत्माओं के कल्याणार्थ दिव्य देशना का सौभाग्य प्रदान करते रहते थे। अनेक श्रोता देशना का अमृतपान कर देशना की समाप्ति के उपरान्त अपने-अपने गंतव्य स्थलों की ओर गतिशील हो जाते थे। किन्तु कई जिज्ञासु एवं कई मुमुक्षु लौटते नहीं, वहीं स्थिर हो जाते थे। मन में विचार बनता था कि प्रभु की देशना तो जीवन का उद्धार करने वाली है। अतः उसका लाभ निरंतर लिया जाय। वहाँ ऐसी ही भावना वाला एक साधक भी पहुंचा। उसने उपदेश सुना- वह दुःख से आर्त्त था। बार-बार दुर्भाग्य को कोसता था- मेरी जिन्दगी भी कैसी है ! लोग कहते हैं- मनुष्य देह दुर्लभ है। 'बहु पुण्य केरा पुंज थी, शुभ देह मानव नो मल्यो' पर मैंने क्या फायदा उठाया ? दिन भर कड़ी मेहनत करके दो जून की रोटी का जुगाड़ नहीं कर पाता हूँ। एक दिन काम न करूँ तो दूसरे दिन खाली पेट सोना पड़ता है। यह भी कोई जीवन है ? दूसरी ओर देखता हूँ , कोई मेहनत नहीं, परिश्रम नहीं, गाड़ी में दौड़ते हैं, गाड़ी में बैठते हैं, कितनी संपन्नता ! ऐसी स्थिति में मेरा जीवन तो भारभूत है।

वह जीवन को कोसता रहता, परन्तु कोसते रहने से तो कोई सुखी नहीं हो सकता। जब तक सुख का स्रोत न मिले, व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता। वह स्रोत पाना भी कठिन काम है। इतनी बातों, अनुष्ठानों का ध्यान कैसे रखें। गूढ़ आगम, उनके भी 11 अंग, उनके भी अनेक भाग- मूल पाठ, अर्थ, टीका, टब्बा, भाष्य, चूर्णि आदि पढ़ते-पढ़ते ही जिन्दगी पूरी हो जाय। सुख कब मिलेगा ? सुख, आगमों में खोजें तो भी नहीं मिलेगा। क्या करें, कैसे करें ? वह व्यक्ति दुःख से व्यथित था, प्रभु की देशना सुनी।

भगवान् ने कहा– "भव्य प्राणियो ! सुख का स्रोत प्राप्त हो सकता है। ऐसा स्रोत, जो न कभी अवरुद्ध हो, न सूखे।" उस भाई के कान खडे हो गये। अरे वाह ! मेरे मन की मुराद पूरी होगी, मनोरथ सफल होंगे। प्रभु कह रहे हैं तो स्रोत मिल जायेगा। वह फिर सूखेगा नहीं, विलीन नहीं होगा। मैं तो यही ढूँढ रहा था। मारा–मारा फिर रहा था। कभी किसी व्यापार में तो कभी किसी व्यापार में। पर सुख मिला नहीं। भगवान् कह रहे हैं– प्राप्त हो सकता है तो मैं भी सुनूं। अगर मुझे स्रोत मिल जाये तो फिर कहना ही क्या ? बस, वह ध्यान से देशना सुनने लगा।

प्रभु महावीर ने कहा– 'दिट्ठे हिं निव्वेयं गच्छेज्जा' केवल तीन शब्द हैं। यह है, सुख का स्रोत। किसे चाहिए ? तात्पर्य है 'दृष्ट पदार्थ में निर्वेद को प्राप्त हो जाय।' ईर्ष्या, राग, द्वेष छोड़ने की बात भी नहीं है। केवल दृष्ट से निर्वेद की बात है। उस व्यक्ति ने सोचा– यह तो सरल है ! जिसे देखो, उससे उदासीन हो जाओ। जो–जो सामने आये, उससे उदासीन होना है। संयोग से वह घर गया। भगवान् की वाणी से रोटी का जुगाड़ तो होना नहीं था। घर में पत्नी के तेवर तेज देखे। पत्नी ने देखा– खाली हाथ आये हैं– आज भी भूखे पेट सोना पडेगा। "ऐसा क्यों बोल रही हो ?" "क्या लाये हो ?" उत्तर मिला– जो आज लाया हूँ, वह पहले कभी नहीं लाया था। मैं आज सुख का स्रोत लाया हूँ। उसने कहा– पहेलियाँ तो नहीं बुझा रहे हो ? खाने का तो पता नहीं, सुख का स्रोत कहाँ से आ गया ? उस भाई ने कहा– मैंने भगवान् से सुना है। भगवान् ने कहा– 'दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा' मैं जो खोज रहा था, मुझे आज मिल गया। अब कुछ नहीं चाहिए। पत्नी ने कहा– आज उपदेश सुन आये। कल भी उपदेश सुनने चले जाना। ये स्रोत तो हवाई किले ही हैं। कितने दिन हो गए, कभी पेट भर रोटी नहीं खाई। साग नहीं तो नमक मिर्च से काम चलाया। संतों के उपदेश में पड़ गये तो खुद भी भूखे रहोगे मुझे भी भूखा रखोगे। उसने फिर कहा– अरे ! तू विचार न

भगवान् ने कहा है तो विश्वास रख। क्या विश्वास रखूँ। उसने सोचा– अब ये बोल रही है तो मुझे इससे उदासीन हो जाना चाहिए। प्रभु ने निर्वेद की बात कही है। मैं नहीं बोलूं, जवाब नहीं दूँ। नहीं बोलूंगा तो क्लेश नहीं बढ़ेगा। चुप हो गया। बात समाप्त हो गई। उसने देखा– सूत्र तो जोरदार है। यह सूत्र ज्ञात नहीं होता तो वह दो बात बोलती, मैं भी चार बोलता, चुप क्यों रहता ? खंडन करता। इस प्रकार बातों की शृंखला बढ़ती जाती। पर आज जो सूत्र मिला है, वह वास्तव में सुख का स्रोत है। भगवान् ने कहा है, जो भी झगड़ा है, वह है– पुद्‌गलों के कारण। किसी को जो मनोज्ञ है, उसे प्राप्त करने की चाहत है, ख्वाहिश है। यदि प्राप्त नहीं, जिसे हम चाहते हैं, उसे कोई दूसरा चाहता है तो संघर्ष पैदा होगा। संघर्ष से वह चाहेगा, मेरी बात नीची न हो। बात नीचे गई तो मामला बिगड़ जायेगा।

सब्जी मंडी में दो व्यक्ति सब्जी खरीदने गये, दोनों नौकर थे। बड़े सेठों के घर नौकरी करते थे। दोनों एक ही दुकान पर पहुँच गये। ताजी भिंडी आई हुई थी। दोनों ने एक साथ ही भाव पूछे। विक्रेता ने कहा– 5 रूपये, 7 रूपये किलो–जो भी रहा हो। जितनी टोकरी में थी, उस पूरे का भाव पूछा गया। भाव बता दिया। पहला कहने लगा– ये लो 5 रूपया, माल मुझे दे दो। दूसरे ने कहा– भाव मैंने पूछा है, मुझे दो। पहले ने 7 रूपये निकाले। दूसरा भी कम नहीं था– 10 रूपया। बोली बढ़ने लगी। आखिर में एक नौकर 3800/–रूपया में खरीद कर ले गया। आप कहेंगे, कपोल कल्पना है। पर यह कपोल कल्पना नहीं है, ऐसी बातें कई बार घट जाती हैं। भिंडी वाले का दुःख–दुर्भाग्य दूर हो गया। उसे तो ऐसा संयोग मिला पर 'दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा' यदि दोनों इस दृष्टि से निर्वेद प्राप्त कर लेते तो बात नहीं बढ़ती। निर्वेद नहीं था, इसलिए संघर्ष बढ़ा।

एक महात्मा चले जा रहे थे, मार्ग भूल गये। विचार करने लगे, किस रास्ते पर जाऊँ ? अचानक दूर खेत में एक किसान दिखा। किसान खेत में हल जोत रहा था। महात्मा ने पुकारा तो

किसान निकट आया। महात्मा ने पूछा भाई ! अमुक गॉव का मार्ग किस दिशा में है ? मुझे बता दो। किसान ने कहा– महाराज ! आप तो भटक गये हैं, खैर चलिये। मैं सही मार्ग तक पहुँचा देता हूँ। किसान महात्मा के साथ हो गया। जहॉ से सही मार्ग का संयोग था, वहॉ तक पहुॅचा कर कहने लगा– आप थोड़ा आगे बढ़ कर बॉये मोड पर मुड़ जाना, अपने गंतव्य तक पहुॅच जाओगे। महात्मा ने कहा– दया पालो और वे आगे बढ़ने के लिए कदम रखने लगे। कृषक ने कहा– ठहरो महाराज ! मुझे भी मार्ग बता दो। महाराज ने सोचा, देर तो हो रही है पर जब कह रहा है तो कुछ बता दूँ। देखो भाई! मार्ग लम्बा है, मुझे भी आगे बढ़ना है, तुम्हें भी काम है। पर एक बात कहता हूँ कि– 'मन का जाणिया नहीं करना'– अर्थात् जिसकी जानकारी मन को मिल जाय, वह कार्य नहीं करना। वाह महाराज ! आपने ठीक मार्ग बताया। महात्मा आगे बढ़ गये। कृषक कुछ देर तक महात्मा को देखता रहा था, फिर उसने विचार किया, अब मैं चलूं। पैर उठाने ही वाला था कि रुक गया। महाराज ने कहा है– मन का जाणिया नहीं करना। यह बात तो मन ने जान ली, लौट जाऊॅ। पर मन ने जान लिया तो यह तो करना ही नहीं। सूत्र छोटा है। हॅसी आ सकती है कि उसने बात पकड़ ली। पर यदि गहराई में पहुॅचें तो ही तत्त्व को प्राप्त कर पायेंगे। वह उस सूत्र में रमते–रमते इतना गहरा उतरा कि वहीं केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

वह साधक विचार करने लगा– प्रभु ने कितना सुन्दर स्रोत बताया है–'दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा' भोजन के लिये जा रहे हैं, भोजन नहीं मिला या सामग्री सही नहीं है, और कोई कडवी बात कह दे तो वहीं निर्वेद प्राप्त कर लो। उदासीन हो जाओ। उदासीनता का तात्पर्य यह नहीं– जो कुछ करना है, उसका निरोध करो, बल्कि उदासीन हो जाओ। क्रोध से उदासीन हो जाओ तो वह भड़केगा नहीं। यदि व्यक्ति विषयों से उदासीन हो जाय तो कर्म–बन्ध नहीं होगा। वह भाई विचार करने लगा, सुन्दर मार्ग है। इस पर चलने

प्रभु के पास गया। भगवन्। आपने मुझे निहाल कर दिया। मैं दुःखी था। आपकी देशना सुनी, सुखी हो गया। मैंने सुना था– निर्ग्रन्थ का उपदेश असरकारक होता है। सुख की टोह में घूमता रहा। आपने कहा– सुख का स्रोत प्राप्त हो सकता है। मुझे जिज्ञासा थी। मैं एकाग्र होकर सुनने लगा। आपने जो फरमाया, यथार्थ में मेरे जीवन में यह महत्त्वपूर्ण रहा, मैं निहाल हो गया। मेरे जीवन में परिवर्तन हो गया। अब मुझे संसार में रुचि नहीं रही है। अब तक जिनके पीछे मेरी दौड़ थी, वह रुक गई है। अब किसके लिए दौडूं ? अब तक बच्चों की चिन्ता रहती थी पर अब वह स्थिति नहीं रही। आपके एक वचन में इतना सुख मिला तो अब मैं चाहता हूँ पूर्ण रूप से आपके चरणों में अर्पित हो जाऊँ। उसने साधु जीवन स्वीकार कर लिया। साधु जीवन स्वीकार करके चल रहा था। अब तक जो सड़क पर था, अब मुनि परिवेश में आ गया। कई लोगों ने प्रशंसा की। धन्य है, अपने जीवन को कृतार्थ कर लिया है। उसे प्रशंसा से प्रमोद आने लगा। वैसे ही वे शब्द कान में उद्घोषित, ध्वनित हुए। 'दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा'। निर्वेद को प्राप्त हो जा। उलझना मत। प्रशंसा में फूलना मत। शब्दों से निर्वेद नहीं किया तो फिर दुःख में पड़ जाओगे, गति ठीक नहीं रहेगी। प्रभु का सूत्र ध्यान में रख कर थोड़ी दूर आगे बढ़ा कि– शब्द आये कानों में, अरे देखो तो सही। खाने–पीने के लाले पड़ रहे थे, भगवान् के पास दीक्षित हुआ तो पाँचों अंगुलियाँ घी में हो गई। गोचरी लायेगा, बहुत से बहराने वाले मिल जाएंगे, मस्ती से खायेगा। सभी प्रकार के लोग मिलते हैं। थोड़ा विचार आया पर फिर सावधान हो गया। सामान्यतः हम सूत्रों को सुनते हैं पर अपनी आत्मा में नहीं उतार पाते। पर जब तक जीवन में उतारें नहीं, वह कानों का विषय तो बन सकता है पर संबंध नहीं जुड़े तो स्वाद, माधुर्य आदि उससे नहीं ले पायेंगे। साधक साधना में गहरा उतर गया, विषयों से लगाव नहीं रहा, आत्म–कल्याण के पथ पर आगे बढ़ने लगा।

कथा के अभयकुमार के चिन्तन पर ध्यान दें। वह जानता था कि महात्मा, महात्मा होते हैं, त्याग बड़ा होता है। ये बात अलग है कि

वह त्याग करके पुनः प्रपंच में पड़ जाय। त्याग मार्ग पर चलने वाला हिंसा, असत्य आदि का त्याग करता है, यह मामूली बात नहीं। अभयकुमार ने रत्नों के ढ़ेर लगाये और घोषणा करवाई, जो जीवन पर्यन्त के लिए तीन करण, तीन योग से हिंसा का त्याग, असत्य का त्याग करे, वह एक–एक ढेरी ले जा सकता है। बहुत से व्यक्तियों ने सुना, विचार करने लगे– यदि अहिंसा का पालन करना है तो फिर धन किस काम का ? क्योंकि जहॉ आरंभ है, वहॉ हिंसा निश्चित होगी। चाहे एक कदम बढाएँ, वहाँ भी हिंसा का संबंध जुड़ेगा। हमारे संत भी, तीर्थंकर भी गति करते हैं। ईर्यापथिकी क्रिया वहाँ भी होती है, आरंभ वहॉ भी है, किन्तु संक्लेश नहीं होने से कर्म बंध नहीं होता हैं। पहले समय में बंध, दूसरे समय में वेदन और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है। परन्तु जो कषाय युक्त हैं, प्रगाढ़ भावों से युक्त हैं, जहॉ यतना नहीं है, वहॉ पग–पग पर आरंभ होता है। आरंभ के रूप में एक प्रकार की हिंसा ही होती है। इसलिये संतों की वाणी का अनुसरण करना चाहिये। उनके वचनों को जीवन में उतारने का प्रयास करना चाहिये। क्यों कि कहा गया है– 'एक वचन जो सद्गुरु केरो, जो पैठे दिल मांय रे प्राणी......।'

अधिक नहीं, यदि प्रतिदिन एक वचन भी व्यवहार में उतर जाय तो हमारा उद्धार हो सकता है । माषतुष मुनि ने क्या किया ? साधु बन गये, ज्ञान–ध्यान नहीं आता था। दूसरों ने मजाक किया– कैसा ठोठीराम है ! ज्ञान–ध्यान नही, खा लिया–पी लिया और आराम कर लिया। लोगों के ऐसे वचन सुन कर उन्हें दुःख होता था। उन्होंने एक दिन गुरुदेव से निवेदन किया कि मुझे लोग ऐसा कहते हैं। गुरुदेव ने कहा– एक सूत्र याद कर लो 'मा रुष, मा तुष'। याद करते–करते मुनिजी को जंगल की हाजत हुई। वे बाहर गये, निवृत्त होकर लौटे, तब तक सूत्र भूल गये थे। विचार करने लगे– गुरुदेव ने कौनसा सूत्र बताया था ? लौट रहे थे, रास्ते में एक किसान अनाज साफ कर रहा था, हवा में उड़ा कर फूस और अनाज

अलग–अलग कर रहा था। मुनि ने पूछा– "तुम क्या कर रहे हो ?" वहाँ उड़द थे। उडद को माष भी कहते हैं। किसान ने कहा–ये माष हैं और ये तुष हैं। उन्हें लगा, गुरुदेव ने शायद यही सूत्र मुझे बताया था। अहो ! गुरुदेव ने कितना गहरा सूत्र दिया है कि माष अलग है, तुष अलग हैं। इसी प्रकार मेरी आत्मा अलग है, शरीर अलग है। भूसे को अलग करके सार प्राप्त किया जाता है। मेरी आत्मा स्वच्छ निर्मल स्वरूप है। दुनियाँ में ऐसा कौन सा पदार्थ है, जिससे वैराग्य उत्पन्न न हो। वैराग्य उत्पन्न हो सकता है, बशर्ते हमारा चिन्तन उस दिशा में चले। निर्वेद, चिन्तन से पैदा होगा। इसीलिए भावनाएँ हैं– राजा, राणा, छत्रपति हथियन के असवार.....। इन्हें अनुप्रेक्षा भी कहा है– ये चिन्तन से जुड़ी तो जीवन में निर्वेद आ जाएगा। केवल किताब में पढ़ी गई स्थिति से नहीं, वल्कि स्वयं खोज में गहरे उतरें। फिर देखिये उस नुस्खे का प्रभावशाली असर होगा। कभी–कभी कहते हैं– आज वीतराग वाणी का प्रभाव नहीं होता। होता है, अगर अनुप्रेक्षा को जीवन का अंग बना लें। फिर घटित होगा असर।

एक सूत्र है– 'मन का जाणिया नहीं करना', 'दिट्ठिहिं निव्वेयं गच्छेज्जा' कवि आनन्दघनजी ने भी कहा है– दुःख दोहग दूरा टल्या रे......। सुख प्राप्त होगा। ऐसा सुख, जो फिर बिछुड़े नहीं। उस सुख को बंद करके न रखें, अन्यथा स्रोत सूख जायेगा। कहा जाता है– धर्म और समाज बैलगाड़ी है, धक्का लगाओ तो चलेगी पर जरुरी नहीं है कि धर्म धक्के से ही चले। तीर्थंकरों की वाणी को सही रूप में ग्रहण करें। धर्म एवं अध्यात्म में रमण करते हुए जीवन में–दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा– सूत्र को स्थान देंगे तो जीवन में सर्वत्र मंगल का प्रसंग उपस्थित होगा।

दि. 2-11-96

१४. शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्रप्ति का उपाय

शासनेश प्रभु महावीर ने भव्यात्माओं को जो उद्‌वोधन दिया, जो देशना दी, उसका एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है– 'जे गुणे से मूल ठाणे, जे मूल ठाणे से गुणे ।'

शब्द सीमित हैं किन्तु गहन भावों से सम्पृक्त हैं। कवि आनंदघनजी जैसे भक्तों ने भी कविता के माध्यम से इसी प्रकार परमात्मा के चरणों में अपनी भावनाएँ व्यक्त की हैं। भक्ति–भावना के आवेग में ही, उन्हें विमल जिनेश्वर के दर्शन हो गये और वे गा उठे– 'विमल जिन दीठा लोयण आज', और वे तृप्त हो गये। वे ही क्यों, सभी की यही भावना रहती है कि उन्हें परमात्मा के दर्शन तथा परमात्मा का चरणाश्रय प्राप्त हो। पर यह प्राप्त कैसे हो ? इसका ज्ञान भी आवश्यक है। हम विचार करें कि परमात्मा कौन बन सकता है ? कैसे बन सकता है ? क्योंकि जब तक यह ज्ञान न हो जाय, तब तक परमात्मा के चरण प्राप्त नहीं हो सकते।

प्रभु महावीर ने कहा– 'अप्पा सो परमप्पा।' यह एक सूत्र है। भाव यह है कि जब आत्मा यात्रा करता है और अत्यंत विशाल तथा व्यापक बन जाता है, तभी वह 'परमात्मा' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि परमात्मा कहीं दूर नहीं है। हमारा ही शुद्ध चैतन्य निश्चय नय की दृष्टि से परमात्मा है, जब कि जिसे हम बाहर देख रहे होते हैं, वह चेतन का शुद्ध स्वरूप नहीं होता।

भगवती सूत्र में आया है– [illegible] वि.....।

अभी जिसके दर्शन हम कर रहे हैं, वह [illegible] आत्मा है [illegible] आत्मा अर्थात् [illegible] से संयुक्त है। [illegible]

निकाल कर लाये गये पत्थरों में हीरे भी होते हैं, जिन्हें तराशा नहीं गया है। खदान से मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण भी निकलता है। स्वर्ण होता है अवश्य, पर उसके साथ मिट्टी का संयोग होता है। उन्हीं पत्थर में पड़े हीरे तराशे न होने के कारण न शुद्ध होते हैं, न मूल्यवान। वैसे ही आत्मा शरीर में योग और कषाय से संयुक्त होता है। आत्मा के आठ भेद कहे गये हैं– (1) द्रव्यात्मा, (2) कषायात्मा, (3) योगात्मा (4) उपयोगात्मा (5) ज्ञानात्मा (6) दर्शनात्मा (7) चरित्रात्मा (8) वीर्यात्मा। ये आत्मा के शुद्ध स्वरूप नहीं हैं। यद्यपि उपचार से ऐसा कह दिया जाता है, जैसे स्वर्ण युक्त मिट्टी को भी स्वर्ण कह दिया जाता है। तप्त लोहे के गोले में अणु–अणु अग्नि व्याप्त हो जाती है, तो कहा जाता है, यह आग है। वैसे ही निश्चय नय से तो जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तथा जिसकी अवाप्ति आत्मा में है, वही परमात्मा है। यह स्वरूप ही जब प्रकट अथवा व्यापक होता है, तब वह परमात्मा होता है। इसे जब साधक या भव्य आत्मा जान लेता है तो विचार बनता है कि उस परमात्मा या शुद्ध चैतन्य को जागृत करूँ, जिससे अनिर्वचनीय आनंद उपलब्ध होता है और जो अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। उस आनंद को शब्दों में अभिव्यक्त कर पाना कठिन है। शब्द कुछ भाव अवश्य व्यक्त कर देते हैं पर उनके पीछे छिपी अनुभूति किसी को प्रकट करके नही दिखाई जा सकती। वह तो स्वाद के क्षणों में ही हो सकती है। इसे ही कबीर ने गूंगे का गुड़ कहा है।

जिस व्यक्ति ने जिन्दगी में कभी खीर न खाई हो, उससे स्वाद पूछें तो क्या वह बता पाएगा ? यदि उसे भिन्न–भिन्न, तौर–तरीकों से बताएँ तो भी वह अनुभूति नहीं कर पायेगा। एक अन्धे व्यक्ति के सामने दूध का बर्तन ले जायें और कहें– ग्रहण करो, उसने कभी दूध देखा नहीं है, अतः वह पूछे– दूध कैसा होता है ? हम कहें– हंस की तरह स्वच्छ। वह पूछे– हंस कैसा होता है ? तब उसके सामने हंस लाया जाय। वह हाथों से स्पर्श कर, गर्दन ऊँची तथा मुड़ी हुई देखकर अनुमान लगाये कि दूध ऐसा है तो वह कहेगा– मुझे नहीं

चाहिए ऐसा दूध। यह मेरे गले में अटक जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्दों में कुछ भी बता दें पर उसकी अनुभूति नहीं कराई जा सकती। शुद्ध चैतन्य की जानकारी जिन क्षणों में अनुभूति में आती है उन क्षणों को ज्ञानी जन अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण अर्थात् जो पहले नहीं आये, अब आये हैं। उस क्षण जो आनंदानुभूति होगी, वह विस्मृत नही होगी, उसका स्मरण बना रहेगा। इसके उपरान्त व्यक्ति चाहता है कि वह साधना में गति करे। यदि वह सजग एवं सावधान है तो निरन्तर अनुभूति होती रहेगी। पर यदि वह लापरवाह बन जाये तो जो प्राप्त है, वह तो रह जायेगी पर पुनः उसकी प्राप्ति कठिन है। यही बात प्रभु महावीर ने आचारांग सूत्र में कही है– 'जे गुणे से मूल ठाणे'।

गुण क्या है ? गुण में सप्तमी विभक्ति का संयोग है। सप्तमी का प्रयोग है तो 'में या पर' होना चाहिए अर्थात् आधार–आधेय भाव हैं। जो गुण में है, वह मूल के स्थान में है। आगे आया जो मूल के स्थान में है वह गुण में है। मूल अलग है, मूल का स्थान अलग है। आज हम मूल को जान रहे हैं, पर जहाँ वह स्थापित है, उस मूल स्थान को जान नहीं पा रहे है। मूल क्या है ? लोग चतुर्गति को मूल समझ लेते है परंतु चतुर्गति तो फल है। कर्म परिणाम से चतुर्गति– नरक, देव, तिर्यच, मनुष्य की पर्याय, ये फल रूप में हैं, जो गुण में स्थित हैं और जो मूल का स्थान है। मूल माना है– कषाय को। इन्द्रियों के जो विषय हैं, इनमें जो आसक्त हैं– 'इइ से गुणट्ठी मच्या परियासेणं' वह गुणार्थी अर्थात् गुण को चाहने वाला है। गुण रस्सी को भी कहते हैं। आत्मा का उत्कर्ष भी गुण कहलाता है। जैसे–जैसे आत्मा विकास करता जाता है। गुणस्थानों पर आरूढ होता जाता है। यही गुण मूल स्थान से जुड़ा है। मूल का तात्पर्य है– कषाय। चार गति में परिभ्रमण में विषय के साथ कषाय भी जुड़ा हुआ है। कषाय नहीं है तो विषयों में आसक्ति नहीं होगी। दूसरे शब्दों में–विषय में आसक्त है तो कषाय में आसक्त होगा। पांच इन्द्रिय के तेईस विषय

में आसक्त नहीं है तो कर्म वन्ध रुक जायेगा, पाप वंध नहीं होगा। विषयों के साथ ही राग–द्वेष, शुभाशुम भाव आदि की कल्पना जुड़ती है– 'ये अच्छा है', 'ये अच्छा नहीं', 'इसमें दुर्गन्ध आती है', यह दिखने में अच्छा नहीं है', 'ये सुनने में कर्कश है'; ऐसे अशुभ भाव आने के साथ द्वेष पैदा होता है। गुण में अर्थात् विपयों में आसक्त है तो वहॉ रागद्वेष की प्रवृत्ति होगी। जहाँ राग–द्वेप है, वहॉ वह मूल वन जाता है– उसका वह स्थान है, जिस पर वह टिका है। यदि मूल मोह कर्म है तो मूल स्थान तृष्णा है।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा। (उतराध्ययन सूत्र–32/8) अर्थात् तृष्णा मोह का आविर्भाव कराती है। हम मूल तक पहुँचते हैं पर स्थान तक नहीं। जड़ें न हटाई तो वह समाप्त नहीं होगा। समाप्त नहीं तो आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। यदि शुद्ध चैतन्य को जागृत करना है तो इन मूल स्थानों को समझना होगा। मेरा मूल स्थान कितना गहरा है, कैसे बना है, कौनसा मार्ग है ?

एक दीवान किसी आरोप में पकड़ा गया। राजा ने दंडित किया। अपराध भारी नहीं था, पर राजा ने ऐसा दंड दिया कि वह स्वतः तड़फड़ा कर मर जाये। मारने के अलग–अलग तरीके होते हैं। खंधक अणगार का नाम सभी ने सुना होगा। राजा के मन में वहम हुआ। महारानी ने थोड़े से विचार रखे– साधु जा रहा है। राजा ने सोचा– महारानी का संबंध होगा। जल्लाद को आदेश दिया– खाल उतार दो। कोल्हू में पील कर मारा जाता है, गोली से उड़ा देते हैं। सड़क पर लिटा कर रौंदा जाता हैं। अनेक तरह से प्राण–दंड दिया जाता है। इसका मुख्य कारण यह था कि भीषण दण्ड से भयभीत होकर लोग अपराघ न करें।

'भय बिनु होइ न प्रीति' अपनी यह शासन प्रणाली नहीं है। स्वतंत्र होना अलग बात है, लेकिन स्वछंदता बढ़ती है तो व्यवस्था

बन नहीं पाती। उसे कारगर करना है तो सुदृढ अनुशासन में रहना चाहिए। वह भंग हो जाये, फिर भी चाहें कि व्यवस्था सुदृढ रहे तो नहीं रह पायेगी। चाहे समाज हो चाहे राजकीय या धार्मिक क्षेत्र हो, जहाँ व्यवस्था या शासन का प्रसंग है, वहाँ अनुशासन की बात आती है। अनुशासन है, वहाँ शास्य–शासक भाव होते हैं। शास्य–शासक यह कोई हीन भावना नहीं है। धर्म क्षेत्र में इस भावना का सूत्रपात प्रभु महावीर ने चार तीर्थों की स्थापना से किया। यदि ये चार तीर्थ स्थापित नहीं होते तो क्या प्रभु महावीर का मोक्ष रुक जाता ? ऐसा कभी नहीं होता। वैसे भी वे सर्वज्ञ थे। उन्हें जरुरत भी नहीं थी, पर फिर भी उन्होंने स्थापना की, क्योंकि वे जानते थे कि यदि अलग–अलग व्यवस्था होगी तो फिर तीर्थंकर की शासन–परंम्परा सुरक्षित नहीं रह पायेगी। केवली उद्‌बोधन देते हैं पर तीर्थ की स्थापना नहीं करते। तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना, सारणा, वारणा, धारणा करते हैं ताकि साधकों की उत्क्रांति हो, और यदि वे विपरीत दिशा में जा रहे हों तो उन्हें रोका जा सके। आप सोचेंगे, प्रभु महावीर ने भी किसी को बढाने या रोकने का कार्य किया ? हम देखें तो पाते हैं कि मेघकुमार की मनःस्थिति डावाडोल थी। वे गृहस्थ में चले जाना चाहते थे, तब क्या प्रभु ने बोध नही दिया ? और अंतिम समय में देवशर्मा को बोध देने हेतु गौतम से कहा– जाओ, उसे बोध देना है, उत्थान करना है। यदि गलत प्रवृत्ति से रोकना है तो अनुशासन की प्रवृत्ति अपनानी होगी। तीर्थ की स्थापना, सारणा, वारणा, धारणा के लिए ग्यारह गणधर बनाये। जब वे मोक्षगमन की स्थिति में पहुँचे तो संघ व्यवस्था सुचारु रूप से चले, इसलिए उन्होंने गणधर सुधर्मास्वामी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और व्यवस्था दी कि एक आचार्य चतुर्विध संघ की सारणा, वारणा, धारणा करे ताकि कोई भी व्यक्ति संघ से गुण मकरंद प्राप्त कर सके और प्रत्येक सदस्य संबल प्राप्त कर सके। हम जानते हैं कि भय और आतंक के वातावरण में आराधना नहीं हो सकती। आतंकवादी घूम रहे हों, [illegible] गोली–गोलों की आवाज आ रही हो और यहाँ आप बैठे हों तो मन स्थिर नहीं रहेगा। इसीलिये [illegible] क्षेत्र

और काल, भाव की दृष्टि से संघ स्थापना आवश्यक है। जैसे संघ की बात है, वैसे ही समाज, परिवार, राष्ट्र व्यवस्था की बात भी है, नहीं तो वहाँ भी अराजकता की स्थिति होगी, फिर प्रेम-वात्सल्य नहीं बढ़ेगा, व्यक्ति शुद्ध चैतन्य को जागृत करने में सक्षम नहीं होगा।

दीवान को दंड देने के पीछे भी मूल कारण था- व्यवस्था बनी रहे। निश्चय में कोई दण्ड का भागी नहीं है। पर व्यवहार में दिख रहा है। निश्चय में कैसे नहीं ? एक प्रसंग आता है। साध्वी आ रही है, उधर से साधु आ रहा है, नदी का प्रसंग है। यदि साध्वी का पैर फिसल जाय, वह नदी में डूब रही हो, उसे बचाने के लिये अन्य कोई नहीं हो तो साधक उसे सहारा देकर उठा सकता है। डूब रही है परन्तु पास में वृक्ष है, तो वृक्ष पकड़ सकती है, वहाँ हिंसा के भाव नहीं होंगे। निश्चय में वहाँ प्रायश्चित का प्रसंग भी नहीं होगा पर व्यवहार शुद्धी के लिए वैसा प्रसंग उपस्थित होता है।

प्रभु महावीर विहार कर रहे थे, संत प्यासे थे, पास में तालाब था। प्रभु महावीर जानते थे कि पानी अचित्त है पर आज्ञा नहीं दी। आज आज्ञा दी तो भविष्य में कोई जानेगा नहीं, निराकरण नहीं हो पायेगा। व्यवहार सुरक्षा के लिए है। निश्चय के लिए व्यवहार को जोड़ा जाता है। शुद्ध चैतन्य को जागृत करने तथा चार तीर्थों की व्यवस्था सुरक्षा हेतु कर दी। दीवान का अपराध रहा हो या नहीं, पर राजा ने उसे दंडित कर दिया। एक बहुत ऊँचे बुर्ज पर दीवान को खुला छोड़ दिया गया। जेल के सीखंचों से तो वह फिर भी निकल जाता पर यदि बुर्ज से छलांग लगाये तो मर जाये। ऊपर कोई पहुँच भी नहीं सकेगा, अतः वह भूख प्यास से तड़फ कर मर जायेगा। दीवान का एक मित्र उधर से निकल रहा था, उसने पूछा- आप तो इतने चतुर हैं फिर अपराध में कैसे फँस गये ? आपने मुक्त होने का कोई उपाय नहीं सोचा ? दीवान ने कहा- मुक्त होने में कोई बाधा नहीं है, उपाय है। मित्र ने पूछा क्या उपाय है ? उत्तर मिला- एक रेशम के धागे से मैं सारा काम निकाल लूँगा। मित्र समझ नहीं पाया।

यदि लोगों के बीच मैंने कोई प्रयास किया और पकड़ा गया तो मैं भी अपराधी को सहयोग देने के कारण अपराधी माना जाऊँगा। श्रावक के तीसरे अणुव्रत में भी कहा गया है–'चोर को सहायता देना, यह भी अपराध है।' कभी–कभी कह दिया जाता है कि वह भी तो मानव है। हम तो पैसे देकर खरीदते हैं, लेकिन यह उसकी वृत्ति को प्रोत्साहन देना है। यदि अराजकता फैलती है तो उसमें आपकी भागीदारी भी जुडेगी। राजव्यवस्था में भी दंड दिया जाता है। यदि श्रावक के जीवन में ऐसी स्थिति पनपती है तो उसका जीवन खतरे में पड सकता है। वहाँ शुद्ध चैतन्य की बात तो दूर रहेगी बल्कि मूल स्थान की जडें ही गहरी होंगी। प्रभु ने निर्देश दिया है कि राजकीय व्यवस्था में भी विधान है कि अपराधी का सहयोगी न बनें। दीवान का मित्र घर पहुँचा। सोच रहा था मुक्त कराऊँ, पर कैसे ? रेशम का धागा कैसे, किस माध्यम से पहुचाऊँ ? बुर्ज बहुत ऊँचा है ? काफी सोचने पर भी कुछ समझ में नहीं आया तो सोचा– बडे बुजुर्गों से विचारणा कर लूं। पर वहाँ भी समाधान नहीं मिला। फिर सोचा दीवान की पत्नी को तो सूचना दे दूँ। दीवान के घर पहुँच कर बात कह दी। दीवान के पुत्र की बुद्धि अच्छी थी, चतुर भी था। पिताजी ने कहा है तो इसके पीछे भी अवश्य कोई राज है। उसने पिताजी की योजना भाँप ली कि वे कैसे मुक्त हो सकते हैं। उसने एक भौंरे को पकड लिया। उसके पैर में धागा बांध दिया और आगे के भाग में शहद की पट्टी लगा दी और बुर्ज के किनारे ले जाकर दीवार के सहारे छोड दिया। उस धागे के पीछे दूसरा धागा और उस धागे के पीछे मोटा रस्सा बांध दिया। भौंरा मकरंद की गंध के विषय में सोचने लगा कि वह ऊपर है, और वह ऊपर चलता–चलता दीवान तक पहुँच गया। दीवान ने उसे अलग कर धागे के सहारे रस्सा खींचा और मुक्त हो गया।

बंधुओ ! वास्तव में दीवान का अपराध नहीं था पर राजा ने उसकी बौद्धिक क्षमता ज्ञात करने के लिए ही यह उपक्रम किया था। देखना था कि वह मुक्त हो सकता है या नहीं [illegible]

दीवान परीक्षा में खरा उतरा। हमारी चेतना उन गुणों, मूल स्थानों में परिबद्ध है– 'जे गुणट्ठी महया परियावेणं' जो परिताप पाता है– 'पुणो–पुणो वसे पमत्ते' वह प्रमत्त पुनः–पुनः संतप्त होता है। मनोज्ञ की अप्राप्ति या मनोज्ञ की प्राप्ति से वह संतप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि विषयासक्त को परिताप–अनुताप होता है। गृद्धि के कारण जिसके पैर फिसलते हैं, वह ऊपर नहीं उठ पाता। उसका उद्धार, सुधार कठिन है।

एक सेठजी को अपने–पुत्र को सुधारना था। पुत्र से कहा– बेटे ! ऑफिस में आया करो। उसे काम में लगाने का प्रयत्न किया। पुत्र अल्हड़ मिजाजी था। एक दिन गाँव में एक नाटक मंडली आई। पुत्र ने सोचा, आज मुझे नाटक देखने जाना है। वह ऑफिस में पहुँचा। अपना टोप उछाल कर टेबल पर फेंका। सेठ की प्रश्नवाचक नजर के उत्तर में लड़के ने कहा– "मैं आज नाटक देखने जाऊँगा।"

पिता ने सोचा– भले देखे। बालक है, इच्छा हो जाती है पर यह तमीज इसे अवश्य सिखानी चाहिए कि बात कैसे की जानी चाहिये। "जाना है तो जाओ, पर थोड़ी शिक्षा ले लो कि बात कैसे की जाती है।" सेठ कुर्सी से उठा, कहने लगा– कुर्सी पर बैठो, मैं तुम्हें सीखाता हूँ। पुत्र कुर्सी पर बैठ गया। सेठ ने टोप लगाई। बाहर गया, फिर द्वार पर आकर कहने लगा– सर ! क्या मैं भीतर आ सकता हूँ ? पुत्र ने कहा– आ सकते हो। सेठ भीतर प्रविष्ट हुआ। हाथ जोड़ कर कहने लगा– सर ! आज नगर में नाटक मंडली आई है। आपकी इजाजत हो तो मैं नाटक देखने चला जाऊँ ? पुत्र ने कहा– अच्छा बेटे ! जा सकते हो। ये लो पाँच रूपये, टिकट के लिये। पिता ने सोचा कि शिक्षा दे दूं पर क्या शिक्षा दे। पुत्र तो पहले से ही सीखा हुआ था। उसे क्या शिक्षा दी जा सकती थी ? हमें यदि शुद्ध चैतन्य को जागृत करना है तो जो प्रभु ने कहा है, उसका ध्यान रखें–

'जे गुणे से मूल ठाणे, जे मूल ठाणे से गुणे।'

जहाँ गुण है, वहाँ शुद्ध चैतन्य का स्वरूप ज्ञात नहीं होगा। उसे तभी जगा पायेंगे, जब दीवान की भाँति अपने आप में जिन गुण और कषायों में लिप्त हैं, उनसे स्वयं को मुक्त करा लें। अपराधों के कारण हम कैद हैं। शरीर रूपी जेल में आत्मा बैठा है। उससे तो 20, 40, 60, 80 वर्ष बाद सम्भव है, छूट भी जाय, पर दूसरी जेल से कैसे मुक्ति होगा ? कोई कहे 100 वर्ष में छुटकारा हो जायेगा, कोई कहे आपकी मृत्यु नजदीक है पर भरोसा क्या और कौन चाहता है, मैं मर जाऊँ– 'सव्वे जीवा वि इच्छंति' (दशवैकालिक 6–10)– सभी की जीवित रहने की इच्छा होती है। अपराधी जेल में जी रहा है, वहाँ भी सोचता है, मौज से रोटियाँ मिल रही हैं, कम से कम कमाने की, चिन्ता तो नहीं करनी पड़ती। वहाँ भी आनन्द मनाता है। हमारी यही दशा है। जेल में आनन्द मान रहे हैं। छूटने का प्रयत्न नहीं करते। मैं, मेरा परिवार इसी में आसक्त होते हुए, परिताप पाते हैं। परन्तु इस जेल से छूटने का मानस नहीं बनता है। यदि इन्हीं विषय–कषायों में उलझे रहे तो पुनः–पुनः चक्र में घूमते रहेंगे। मुक्त होना है तो– 'समियाए धम्मे'। गुरु उपदेश से इस सूत्र को अपना कर मुक्ति पथ पर बढ़ें। शुद्ध चैतन्य को जगायेंगे तो फिर आनंद का पारावार उमड़ेगा। ऐसे ही आनंद में मगन होकर कवि आनन्दघनजी बोल उठे– 'विमल जिन दीठा लोयण आज.... ।'

कवि को बोध हुआ। वैसे ही शुद्ध चैतन्य को जागृत करने के लिए प्रयत्नरत रहें। नीति, नियम, मर्यादा को सुरक्षित रखें, तभी जीवन सुरक्षित होगा। अतः गुण और मूल स्थानों से उपरत होकर आनंद सरोवर में अवगाहन का उपक्रम करें, तभी इस जीवन की सार्थकता होगी।

दि. 3-11-96

भूख-प्यास का कैसे ध्यान रहेगा ? ये भूख-प्यास की अवस्थाएँ शरीरजन्य है। जहाँ शरीर नहीं, वहाँ ये आयेंगी कैसे ? पर जब तक यह ज्ञान नहीं है, ऐसी अवस्थाएँ बनती रहेंगी। शास्त्रकार कहते हैं- णाणस्स सव्वस्स पगासणाए- ज्ञान आलोक प्रकाशित करें। सम्पूर्ण ज्ञान का आलोक प्रकाशित हो गया तो फिर वहाँ अज्ञान रहेगा ही नहीं। परन्तु किसी रूप में अज्ञान भी रह सकता है। यदि नहीं रहता तो शास्त्रकार क्यों कहते ? 'अण्णाण मोहस्स विवज्जणाय'। ये शब्द बता रहे हैं कि अज्ञान रह सकता है। बात अटपटी लगेगी- ज्ञान का सर्व प्रकाश, फिर भी अज्ञान पड़ा रह जाय ? जिसे श्रुत ज्ञान का, मति ज्ञान का, 14 पूर्व का, दृष्टिवाद का ज्ञान हो जाय तो उसे श्रुत केवली कहा गया है। इसके बावजूद वहाँ अज्ञान रह सकता है। इसे दो प्रकार से समझ सकते हैं-

(1) जब तक मिथ्यात्व मोह है, वहाँ अज्ञान रहता है क्योंकि ज्ञान का विपरीत रूप में होना भी अज्ञान ही है।

(2) दूसरी बात है कि जो बात हमारी जानकारी में ही नहीं है, वह भी एक प्रकार से अज्ञान ही है।

मान लीजिए, एक व्यक्ति ने बी.ए. तक का अध्ययन कर लिया पर एम.ए. की पढ़ाई नहीं की है तो वह उसका अज्ञान है। जितना जाना है, वह तो ज्ञान है, जिसे नहीं जाना, वह तो अज्ञान ही माना जायेगा। यह ज्ञानावरणीय का उदय है। दूसरी बात यह भी है, जिसमें ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम है पर मिथ्यात्व मोह का पर्दा है, जैसे चन्द्र में प्रकाश है पर जब राहु का विमान आड़े आ जाता है, तब ग्रहण हो जाता है, चन्द्र ढक जाता है, वैसे ही मिथ्यात्व मोह की छाया से ज्ञान का प्रकाश ढक जाता है, [illegible] से मोक्ष नहीं मिलेगा, [illegible] इसलिए [illegible]

१५. णाणस्स सव्वस्स पगासणाए

व्यक्ति जब किसी दिशा में कदम बढाता है और कुछ प्राप्त करना चाहता है, तब यह आवश्यक है कि वह संबंधित विषय के ज्ञान से सम्पन्न हो अन्यथा उसके लिये सफलता प्राप्त करना दुष्कर होगा।

उत्तराध्ययन सूत्र (32/2) में कहा गया है– 'एगंत सोक्खं समुवेई मोक्खं'– एकान्त सुख का स्थान मोक्ष है, जहाँ दुःख–दुर्भाग्य नहीं, अविद्या–अज्ञान नहीं, केवल शांत–प्रशांत, सुखद अवस्था है। कभी–कभी व्यक्ति विचार करता है कि यदि मोक्ष प्राप्त हो जायेगा, तो वहाँ भूख–प्यास भी नहीं रहेगी। तब बिना खाये–पीये कैसे रहा जायेगा ? वहाँ आनन्द–सुख कैसे मिलेगा ? क्योंकि आनन्द तो मन पसन्द वस्तु खाने–पीने से मिलता है ? तब यह समझ लेना चाहिये कि वस्तुतः मौज तो इन्द्रियों की होती है। भोजन सुख या आनन्द नहीं है। यदि वह सुख देने वाला ही होता तो भरपेट भोजन कर लेने के बाद, वे ही पदार्थ और दे दिये जाने पर क्यों कहता– "नहीं–नहीं, अब नहीं चलता.., उल्टी हो जायेगी, खाया–पिया व्यर्थ हो जायेगा। उसमें भोजनोपरान्त कोई रुचि नहीं है।

कल्पना कीजिये कि आप कोई मनपसंद कार्य कर रहे हैं अथवा कोई प्रिय टी.वी. सीरीयल देख रहे हैं, उस समय भोजन करना भी आप भूल जायेंगे। श्रीमतीजी कहती जायेंगी कि भोजन ठंडा हो जायेगा पर आपका मन नहीं करता कि उठ कर जायें, क्योंकि आप उस समय उस कार्यक्रम से तृप्त हो रहे होते हैं, अतः उठने का मन नहीं होता। यह पदार्थों का लगाव है। जब वहाँ भी पूर्ण अवस्था आ जाती है, तब मोक्ष में, जहाँ एकान्त सुख है, वहाँ

भूख--प्यास का कैसे ध्यान रहेगा ? ये भूख–प्यास की अवस्थाएं शरीरजन्य है। जहाँ शरीर नही, वहाँ ये आयेगी कैसे ? पर जब तक यह ज्ञान नहीं है, ऐसी अवस्थाएँ बनती रहेगी। शास्त्रकार कहते है– णाणस्स सव्वस्स पगासणाए– ज्ञान आलोक प्रकाशित करे। सम्पूर्ण ज्ञान का आलोक प्रकाशित हो गया तो फिर वहाँ अज्ञान रहेगा ही नहीं। परन्तु किसी रूप में अज्ञान भी रह सकता है। यदि नही रहता तो शास्त्रकार क्यों कहते ? 'अण्णाण मोहस्स विवज्जणाय'। ये शब्द बता रहे हैं कि अज्ञान रह सकता है। बात अटपटी लगेगी– ज्ञान का सर्व प्रकाश, फिर भी अज्ञान पड़ा रह जाय ? जिसे श्रुत ज्ञान का, मति ज्ञान का, 14 पूर्व का, दृष्टिवाद का ज्ञान हो जाय तो उसे श्रुत केवली कहा गया है। इसके बावजूद वहाँ अज्ञान रह सकता है। इसे दो प्रकार से समझ सकते हैं–

(1) जब तक मिथ्यात्व मोह है, वहाँ अज्ञान रहता है क्योंकि ज्ञान का विपरीत रूप मे होना भी अज्ञान ही है।

(2) दूसरी बात है कि जो बात हमारी जानकारी मे ही नही है, वह भी एक प्रकार से अज्ञान ही है।

मान लीजिए, एक व्यक्ति ने बी.ए. तक का अध्ययन कर लिया पर एम.ए. की पढाई नही की है तो वह उसका अज्ञान है। जितना जाना है, वह तो ज्ञान है, जिसे नही जाना, वह तो अज्ञान ही माना जायेगा। यह ज्ञानावरणीय का उदय है। दूसरी बात यह भी है, जिसमे ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम है पर मिथ्यात्व मोह का उदय है, जैसे चन्द्र मे प्रकाश है पर [illegible] ग्रहण हो जाता है, चन्द्र [illegible] वैसे ही मिथ्यात्व मोह के आवरण से ज्ञान का [illegible] [illegible]

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है– ज्ञान प्राप्ति में पाँच बाधाए हैं, पाँच घाटियाँ हैं। उन्हें पार कर लें, तभी ज्ञान प्राप्त हो सकता है अन्यथा ज्ञानचक्षु उद्घाटित नहीं हो सकते। ये पाँच घाटियाँ हैं– मान, क्रोध, प्रमाद, आलस्य और रोग। जहाँ ये घाटियाँ हैं तथा प्रयुक्त हो रही हैं, वहाँ ज्ञान प्रकट नहीं होता। मान के संबंध में बतलाया गया है कि मानी को अनुभव–ज्ञान का प्रसंग बन भी जाये तो भी मान उसे विषाक्त कर देता है। वैसे ही, जैसे दूध भी यदि सर्प के मुँह में डालें तो परिणमन विष ही होगा। वैसे ही ज्ञान तो प्राप्त किया पर साथ में अहं जुड़ा तो वह विषाक्त होगा। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है। ज्ञान का अर्थ है अनुभव–ज्ञान, जिसकी आत्मा अनुभूति करे। मिठाई के विषय में एक ने पढ़ा, एक ने मिठाई चखी। तब स्वाद की अनुभूति किसे होगी ? ऐसे ही पुस्तक से ज्ञान हुआ, पढ़ा पर स्वाद नहीं मिलेगा। लेकिन जब अनुभूति से संयुक्तिकरण हो जाय और बने अनुभव–दशा, वह होगा– आत्मा का ज्ञान। किन्तु उसमें यदि अहं का पुट या विष का मिश्रण हो गया तो फिर वह अज्ञान और मोह को दूर करने में सक्षम नहीं रहेगा, न ही ज्ञान को सर्व रूप से प्रकट कर पायेगा। ज्ञान वहीं रुक जायेगा, उसका प्रवाह आगे नहीं बढ़ पायेगा। एक अवस्था ऐसी भी आ सकती है कि वह धीरे–धीरे क्षीण होकर तिरोहित हो जाये।

दूसरी घाटी है– क्रोध की। यह मान का सहचर है। मान ज्ञान के प्रकटीकरण में बाधक नहीं है पर उसे विषाक्त बनाता है। लेकिन क्रोध अनुभव को जन्मने ही नहीं देता। जिस समय आवेश आता है, व्यक्ति भान भूल जाता है। अहं में व्यक्ति फूलता है, वहाँ भाव यह रहता है कि 'मैं हूँ।' यह तो वही बात हुई– सड़क संकरी और मैं चौड़ा। क्रोध अनुभव को जागृत नहीं होने देता वरन् उसे ढकता है। इसीलिए कहा गया है– 'कोहो य माणो य अणिगहिया;' क्रोध, मान इनसे व्यक्ति ने बहुत दोस्ती कर ली है, इन्हें घर का रक्षक वना लिया पर ये रक्षक ही भक्षक बन जाते हैं। इन्हें इसलिए रखा था

कि घर खाली न रहे, एक से दो भले, आश्रय दिया। पर फिर जल्दी घर खाली नहीं करते। इन्हें लिपट दी तो ये हमारी अनुभव–धारा को ही दबा कर बैठ जाते हैं, उसे विषाक्त कर देते हैं। हम घर में प्रविष्ट होना चाहते हैं पर ये रोड़ा अटकाते हैं। व्यक्ति हताश हो जाता है। उसका हौंसला पस्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति यथार्थ में ज्ञान नहीं कर पायेगा और यदि वह, यह सोच ले कि अब कुछ हो नहीं पायेगा और प्रमाद में पड़ जाय तो यह प्रमाद भी घाटी बन जाता है। यह अनुभव–दशा पर पर्दा डालने वाला है। मान तो विषाक्त करता है, क्रोध जगने ही नहीं देता; यदि जग भी जाय तो प्रमाद पर्दा डाल देता है। प्रमाद से आया ज्ञान पुनः तिरोहित हो जाता है।

मान लीजिये, अवधिज्ञान प्रकट हुआ। देखा, लक्ष्मीजी के पैरों पर इन्द्र मुकुट रखकर पैरों को सहला रहा है। यदि ऐसा देख कर अवधिज्ञानी को हँसी आ जाये तो आया हुआ ज्ञान लुप्त हो जाता है। इतनी सी बात से ज्ञान चला जाये, ये कैसे ? बात स्पष्ट है कि जिन शुभ अध्यवसायों से ज्ञान का प्रकटीकरण हुआ था, जागरण हुआ था, वहाँ हास्य या प्रमाद का जो प्रसंग बना, वह पर्दा डालने वाला बन गया। गुरु ने शिष्य से प्रश्न किया–

> पान सड़े, घोड़ा अड़े, विद्या बिसर जाय।
> तवे पर रोटी जले, कहो चेला किन न्याय।।

चौथी घाटी है– आलस्य। वह अनुभव दशा को सुलाये रखता है, सुषुप्ति में पड़ा रखता है। आलसी सोचता है– ठीक है, आज नहीं कल कर लूंगा। प्रमाद और आलस्य में अंतर है। प्रमाद में वह जगा हुआ है किन्तु इधर–उधर की बात में लगा है। आलस्य निष्क्रियता का सूचक है, जहाँ वह हाथ–पैर नहीं हिलाता। प्रमाद में हाथ–पैर हिलाता है पर गुलछर्रे उड़ाता है। दूसरी बात यह है कि पुरुषार्थ तो करता है पर आत्मा की दिशा में नहीं। आलस्य में सुषुप्ति, शून्य चित्त, क्या करूँ, क्या नहीं, ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं। आलसी हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाता है। आलस्य ज्ञान को जगने नहीं देता, सुलाये रखता है। रोग ज्ञान को बढने नहीं देता। रोग हो गया, चलेंगे तो परेशानी, थकान आ जावेगी। ज्ञान की दिशा में बढ़ नहीं पायेगा।

शास्त्रकारों ने ये पाँच घाटियाँ बताई हैं, जहाँ ज्ञान का प्रकटीकरण नहीं हो पाता। यदि ज्ञान का प्रकटीकरण नहीं, तो क्या विमल जिनेश्वर के दर्शन हो पायेंगे ? अज्ञान दशा में दर्शन संभव नहीं है। जहाँ ये घाटियाँ मौजूद हैं, वहाँ ज्ञान का सर्वथा प्रकाश नहीं होगा।

"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए" यह होने पर एक हेतु पूर्ण होता है। पर जब तक इसकी जानकारी नहीं होगी, उपाय ज्ञात होने पर भी ज्ञान को जागृत नहीं किया जा सकेगा। अनेक बार चर्चा होती है– ज्ञान और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं। यदि ज्ञान अलग नहीं तो आत्मा ही ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाय। फिर ज्ञाता कौन होगा ? यदि दोनों भिन्न हैं तो भिन्नता कैसी ? यदि हम कहें दीपक और बाती के तुल्य हैं तो दीपक में से बाती चली जायेगी तो ज्ञान भी आत्मा से चला जायेगा। किसी–किसी की मान्यता है कि ज्ञान स्वाभाविक नहीं किन्तु आवर्जित गुण है। समवाय संबंध से संबंधित है। कोई दो पदार्थों को जोड़ता है, वैसे ही ज्ञान है। जैन दर्शन कहता है– ऐसा नहीं है कि दोनों अलग हैं, क्योंकि गुण गुणी से

अलग रह सके, ये हो नहीं सकता। तीर्थंकरों ने ज्ञान को आत्मा का गुण कहा है—

> "णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
> वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं।।"

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग— ये जीव के लक्षण हैं। लक्षण वे होते हैं, जो सदा विद्यमान रहें। लक्षण उसे अन्य द्रव्यों से भिन्न करते हैं। जब ज्ञान को आत्मा का गुण स्वीकार किया है तो आत्मा गुणी होगा। जैसे चादर के तन्तुओं से रंग जुड़ा होता है। अन्य कोई रंग चढ़ा लें, यह बात अलग है, पर तन्तु और रंग में गुण–गुणी संबंध है। इन्हें सर्वथा भिन्न नहीं किया जा सकता। चादर या रजोहरण को अलग किया जा सकता, पर ज्ञान को अलग हटाकर नहीं रखा जा सकता। वह तो सदा विद्यमान है। उसे प्रकट करने की बात कही जाती है। ये नहीं कहा कि ज्ञान को प्राप्त करो, ज्ञान बाहर से नहीं लाना है, जो है, उसे सर्वथा प्रकाशित करना है। वह ज्ञान आत्मस्वरूप ही है। कपड़े की तरह उसे अलग नहीं किया जा सकता। जब तक अनुभव–दशा का जागरण नहीं, तब तक साधना में उतार–चढ़ाव आ सकता है। लेकिन जब अनुभव–दशा जागृत हो जाती है, शुद्ध चैतन्य जागृत हो जाता है, तब विमल जिनेश्वर की अनुभूति होने लगती है। एक बार अनुभव–दशा जग जाये तो वह आत्मा विशुद्ध रूप से कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर पायेगी। संपन्न करना चाहते हैं तो सम्यक् ज्ञान आवश्यक है, और मोक्ष प्राप्त करना है तो सम्यक् भी ज्ञान प्राप्त करना ही होगा।

चौथी घाटी है– आलस्य। वह अनुभव दशा को सुलाये रखता है, सुषुप्ति में पड़ा रखता है। आलसी सोचता है– ठीक है, आज नहीं कल कर लूंगा। प्रमाद और आलस्य में अंतर है। प्रमाद में वह जगा हुआ है किन्तु इधर–उधर की बात में लगा है। आलस्य निष्क्रियता का सूचक है, जहाँ वह हाथ–पैर नहीं हिलाता। प्रमाद में हाथ–पैर हिलाता है पर गुलछर्रे उड़ाता है। दूसरी बात यह है कि पुरुषार्थ तो करता है पर आत्मा की दिशा में नहीं। आलस्य में सुषुप्ति, शून्य चित्त, क्या करूँ, क्या नहीं, ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं। आलसी हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाता है। आलस्य ज्ञान को जगने नहीं देता, सुलाये रखता है। रोग ज्ञान को बढने नहीं देता। रोग हो गया, चलेंगे तो परेशानी, थकान आ जावेगी। ज्ञान की दिशा में बढ़ नहीं पायेगा।

शास्त्रकारों ने ये पाँच घाटियाँ बताई हैं, जहाँ ज्ञान का प्रकटीकरण नहीं हो पाता। यदि ज्ञान का प्रकटीकरण नहीं, तो क्या विमल जिनेश्वर के दर्शन हो पायेंगे ? अज्ञान दशा में दर्शन संभव नहीं है। *जहाँ ये घाटियाँ मौजूद हैं, वहाँ ज्ञान का सर्वथा प्रकाश नहीं होगा।*

"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए" यह होने पर एक हेतु पूर्ण होता है। पर जब तक इसकी जानकारी नहीं होगी, उपाय ज्ञात होने पर भी ज्ञान को जागृत नहीं किया जा सकेगा। अनेक बार चर्चा होती है– ज्ञान और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं। यदि ज्ञान अलग नहीं तो आत्मा ही ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाय। फिर ज्ञाता कौन होगा ? यदि दोनों भिन्न हैं तो भिन्नता कैंसी ? यदि हम कहें दीपक और बाती के तुल्य हैं तो दीपक में से बाती चली जायेगी तो ज्ञान भी आत्मा से चला जायेगा। किसी–किसी की मान्यता है कि ज्ञान स्वाभाविक नहीं किन्तु आवर्जित गुण है। समवाय संबंध से संबंधित है। कोई दो पदार्थों को जोड़ता है, वैसे ही ज्ञान है। जैन दर्शन कहता है– ऐसा नहीं है कि दोनों अलग हैं, क्योंकि गुण गुणी से

में भी इन सूत्रों की प्रतिष्ठा अपेक्षित है। ये तीन बातें हैं– (1) सह अस्तित्व (2) सहिष्णुता (3) समता। प्रथम दो की अनुपस्थिति में समता टिक नहीं पायेगी। समता के लिए पहले दोनों सूत्रों को भी अपनाना होगा। इन सूत्रों की किंचित् विवेचना उपयुक्त होगी। पहले सह अस्तित्व को समझ लें। जैसे मैं अपना अस्तित्व चाहता हूँ, उसी प्रकार मुझे भी सामने वाले का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। कोई सोचे– मेरा अस्तित्व तो बना रहे, पर सामने वाले का नहीं, तो वहाँ समता नहीं रहेगी। 'स्व' की तरह दूसरों को भी स्वीकार करना आवश्यक है। सहिष्णुता से तात्पर्य है– सहनशीलता, तितिक्षा। यदि मैं कहता हूँ तो मुझमें सुनने की क्षमता भी होनी चाहिये, अन्यथा समता नहीं रहेगी। समता के ये दो सूत्र हैं, इन्हें अपनाया तो समता आ जायेगी। इन्हें छोड़ दिया तो समता नहीं खिल पायेगी। मुख्यमंत्री जी आचार्य श्रीजी के इन सूत्रों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अपने वक्तव्य में भी इनका उल्लेख किया।

हम भी घर के मुख्यमंत्री हैं। बहनें तो राष्ट्रपति हैं, उनके बिना पत्ता नहीं हिल सकता। मुख्यमंत्री, राष्ट्रपति के बिना कुछ नहीं कर सकता। सभी को इन बातों का अनुभव होता है, परन्तु जहाँ क्रोध, मान, प्रमाद जैसी बाधाएँ आ जायेगी, वहाँ समता, अनुभव की दशा नहीं बन पायेगी तथा उन बाधाओं के रहते ज्ञान को सर्व रूप से प्रकाशित नहीं किया जा सकेगा। ज्ञान–ज्योति का जागरण होने पर ही विमल जिनेश्वर के दर्शन होंगे। बात चाहे विमल जिनेश्वर के दर्शन की हो या प्रभु महावीर के दर्शन की अथवा अपने आत्मदर्शन की, जब अनुभवदशा तीक्ष्ण होगी, तभी वहाँ बिम्ब प्रतिबिम्बित् होगा। जिस क्षण यह अवस्था घटित होगी, वह क्षण जीवन के लिए मंगल अवस्था का क्षण होगा। जीवन को मंगलमय बनाने के लिये ज्ञान को सर्व रूप में प्रकाशित करने की दिशा में हम अग्रसर हों।

दि. 4-11-96

१६. ज्ञान-ज्योति का आलोक

ज्ञान को प्रकाश का पर्याय माना जाता है। ज्ञान का यह प्रकाश कैसे हो? यह समझने की बात है। बाहर जो प्रकाश है वह सूर्य का, विद्युतजन्य या अग्निजन्य है। इस प्रकार जो साधन हैं और जिनमें अग्नि का निमित्त जुड़ता है, उनसे प्रकाश की प्राप्ति होती है। रत्न, मणि आदि से भी प्रकाश का प्रसंग बनता है, पर ज्ञान का प्रकाश इन सब से भिन्न होता है। वह स्वयं में प्रकाशमान है। यह बात अलग है कि जब उस पर छाया या आवरण आ जाय तो उसका प्रकाशित रूप प्रकट नहीं हो पाता।

शास्त्र वचन है-- 'णाणस्स सव्वस्स पगासणाए।' इसमें जो निहितार्थ है, वह यह है कि जहाँ-जहाँ ज्ञान पर आवरण आ गया है, बन्धन लग गया है, उसे यदि हटा दें तो ज्ञान प्रकाशित हो जायेगा। ज्ञान का आलोक पूरे आत्म प्रदेशों में व्याप्त है। आत्मा एक द्रव्य है, जो असंख्यात प्रदेशात्मक है। वे सभी प्रदेश ज्ञान से प्रकाशित हों तथा उसमें छिपा सर्व ज्ञान या सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो, यह लक्ष्य होना चाहिये।

में भी इन सूत्रों की प्रतिष्ठा अपेक्षित है। ये तीन बातें हैं– (1) सह अस्तित्व (2) सहिष्णुता (3) समता। प्रथम दो की अनुपस्थिति में समता टिक नहीं पायेगी। समता के लिए पहले दोनों सूत्रों को भी अपनाना होगा। इन सूत्रों की किंचित् विवेचना उपयुक्त होगी। पहले सह अस्तित्व को समझ लें। जैसे मैं अपना अस्तित्व चाहता हूँ, उसी प्रकार मुझे भी सामने वाले का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। कोई सोचे– मेरा अस्तित्व तो बना रहे, पर सामने वाले का नहीं, तो वहाँ समता नहीं रहेगी। 'स्व' की तरह दूसरों को भी स्वीकार करना आवश्यक है। सहिष्णुता से तात्पर्य है– सहनशीलता, तितिक्षा। यदि मैं कहता हूँ तो मुझमें सुनने की क्षमता भी होनी चाहिये, अन्यथा समता नहीं रहेगी। समता के ये दो सूत्र हैं, इन्हें अपनाया तो समता आ जायेगी। इन्हें छोड़ दिया तो समता नहीं खिल पायेगी। मुख्यमंत्री जी आचार्य श्रीजी के इन सूत्रों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अपने वक्तव्य में भी इनका उल्लेख किया।

हम भी घर के मुख्यमंत्री हैं। बहनें तो राष्ट्रपति हैं, उनके बिना पत्ता नहीं हिल सकता। मुख्यमंत्री, राष्ट्रपति के बिना कुछ नहीं कर सकता। सभी को इन बातों का अनुभव होता है, परन्तु जहाँ क्रोध, मान, प्रमाद जैसी बाधाएँ आ जायेगी, वहाँ समता, अनुभव की दशा नहीं बन पायेगी तथा उन बाधाओं के रहते ज्ञान को सर्व रूप से प्रकाशित नहीं किया जा सकेगा। ज्ञान–ज्योति का जागरण होने पर ही विमल जिनेश्वर के दर्शन होंगे। बात चाहे विमल जिनेश्वर के दर्शन की हो या प्रभु महावीर के दर्शन की अथवा अपने आत्मदर्शन की, जब अनुभवदशा तीक्ष्ण होगी, तभी वहाँ बिम्ब प्रतिबिम्बित् होगा। जिस क्षण यह अवस्था घटित होगी, वह क्षण जीवन के लिए मंगल अवस्था का क्षण होगा। जीवन को मंगलमय बनाने के लिये ज्ञान को सर्व रूप में प्रकाशित करने की दिशा में हम अग्रसर हों।

दि. 4-11-96

१६. ज्ञान-ज्योति का आलोक

ज्ञान को प्रकाश का पर्याय माना जाता है। ज्ञान का यह प्रकाश कैसे हो ? यह समझने की बात है। बाहर जो प्रकाश है, वह सूर्य का, विद्युतजन्य या अग्निजन्य है। इस प्रकार जो साधन हैं और जिनमें अग्नि का निमित्त जुडता है, उनसे प्रकाश की प्राप्ति होती है। रत्न, मणि आदि से भी प्रकाश का प्रसंग बनता है, पर ज्ञान का प्रकाश इन सब से भिन्न होता है। वह स्वयं में प्रकाशमान है। यह बात अलग है कि जब उस पर छाया या आवरण आ जाय तो उसका प्रकाशित रूप प्रकट नहीं हो पाता।

शास्त्र वचन है— 'णाणस्स सव्वस पगासणाए।' इसमें जो निहितार्थ है, वह यह है कि जहाँ—जहाँ ज्ञान पर आवरण आ गया है, ढक्कन लग गया है, उसे यदि हटा दें तो ज्ञान प्रकाशित हो जायेगा। ज्ञान का आलोक पूरे आत्म प्रदेशों में व्याप्त है। आत्मा एक द्रव्य है, जो असंख्यात प्रदेशात्मक है। ये सभी प्रदेश ज्ञान से प्रकाशित हों तथा उसमें छिपा सर्व ज्ञान या संपूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो, यह लक्ष्य होना चाहियें।

ज्ञान के चार प्रकार मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान तथा मनःपर्यव ज्ञान भी अपने—अपने विषय की दृष्टि से पूर्ण हैं। ये नहीं कहा जा सकता कि मति ज्ञान अपूर्ण है। यद्यपि सभी ज्ञान अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पूर्ण हैं तथापि भिन्न संदर्भों में इनके भावों में अंतर देखा जा सकता है। इस प्रकार जब हम इकाई की बात करते हैं, तब अर्थ भिन्न हो जाता है। यदि ये अर्थ करें कि प्रथम चार ज्ञान में भेद नहीं है बल्कि वे आत्मा के साथ रहने वाली ज्ञान शक्तियाँ हैं, उन्हें पूर्ण रूप से प्रकाशित करना है तो उत्तरार्ध का,

अर्थात् आगे आने वाले पद का अर्थ होगा– अज्ञान मोह का नाश- 'अण्णाण मोहस्स विवज्जणाय', उसके बिना ज्ञान सर्व रूप से प्रकाशित नहीं होगा। ज्ञान है तो अज्ञान मोह को नष्ट हो जाना चाहिए, पर ऐसा हमेशा नहीं होता। कभी–कभी व्यक्ति सोचता है कि उसे ज्ञान हो गया है लेकिन वास्तव में पूर्ण ज्ञान नहीं होता, अज्ञान भी वहाँ जुड़ा रहता है।

भगवती सूत्र में शिवराजर्षि का कथन है, जब उन्होंने तापसी दीक्षा ली तब उन्हें अवधिज्ञान के विपरीत विभंगज्ञान हुआ। जितना वे देख रहे थे, उसे ही मान लिया कि उससे आगे कुछ नहीं है, सारा विश्व उतने में ही सीमित है। इस प्रकार ज्ञान तो हुआ पर साथ में अज्ञान भी रह गया। ऐसी स्थिति में ज्ञान–ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होगी। उसे प्रकाशित करना है तो अज्ञान और मोह को दूर करना होगा। अज्ञान और मोह पड़े रहेंगे तो ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होगा। यह भी होता है कि अज्ञान का स्वरूप क्या है इसे व्यक्ति जान नहीं पाता। अज्ञान का एक स्वरूप तो है अभाव, दूसरा है विपरीतता। वह किन–किन रूपों में व्यक्त होता है। इसे समझ लें।

गंगा और गोमती नाम की दो गायें थीं। हम जानते हैं कि लोग कभी–कभी पशुओं के भी नाम रख देते हैं। नाम लेने से ये पशु उस ओर दृष्टि कर देते हैं। आज तो घर में गायें कम ही मिलेंगी। हाँ कुत्तों के व्यवहार से हम भलीभाँति परिचित हैं। कोई आवाज लगाये– टॉनी, तो वह इस प्रकार से पुकारे जाने का अभ्यस्त होने के कारण उछल कर पास आ जाता है और मुँह ऊँचा करके देखने लगता है या भौंकने लगता है। तात्पर्य यह है कि नाम पुकारने के साथ ही वह अपनी हर्ष ध्वनि व्यक्त करता है। हम उसे समझ पायें या नहीं यह अलग बात है। गंगा और गोमती दोनों गायें साथ–साथ चरने जातीं और वापस साथ–साथ लौटती थी। दोनों में इतना स्नेह हो गया था कि एक साथ चरने जातीं और सायंकाल वापस साथ–साथ

अपने–अपने घर लौटतीं। घटना शेखपुरा रियासत के राजगढ़ गाँव की है। गॉव में एक किसान था– दीनू। उसी की गाय थी– गंगा। धनाढ्य सेठ हस्तीमल की गाय थी, गोमती। एक बार गंगा ने बछडे को जन्म दिया। दीनू और उसकी पत्नी प्रसन्न हुए। सोचा अभी तक हमने इसे सूखा घास खिलाया है, हरी घास नहीं दी है पर इसने बछड़ा दिया है तो इसे गुड़–दलिया खाने को दिया जाय। पर मन में उदासी आ गई। सोचा, स्वयं का पेट पालना कठिन है, पास में पैसे नहीं हैं, दलिया–गुड़ का जुगाड़ कैसे किया जाय ? सहसा दीनू की पत्नी ने कहा– "सेठ हस्तीमल से उधार मांग लाओ।" दीनू दौड़ा हुआ गया और गुड़–दलिया ले आया।

इधर गंगा कुछ दिन से वाहर चरने नहीं जा रही थी। इधर गोमती चरने जाती तो दीनू के घर के सामने निकलती और रंभाती। गंगा भी भीतर से रंभाती। यह वात सेठ को अच्छी नहीं लगती। उसके मन में द्वेष–भाव पैदा हो गया। यह भी अज्ञान ही था। सेठ को यह नहीं सुहाया कि बड़े घर की गाय छोटे घर की गाय से दोस्ती करें। गोमती को जंगल भेजने की कोशिश की गई पर वह इधर–उधर घूम कर वहीं आ जाती। सेठ विचार में पड़ गया क्या करूँ ? कैसे करूँ ? गोमती को खूब मारा–पीटा गया पर ज्यों ही उसे छोड़ा जाता, वह दीनू के घर के सामने पहुँच जाती और रंभाने लगती। सेठ ने देखा और वह बहुत क्रुद्ध हुआ। हताशा में अब वह गाय के बदले दीनू से ईर्ष्या करने लगा। यह था, अज्ञान का प्रकटीकरण।

गाय रंभाती थी तो सेठ का क्या बिगाड़ हो रहा था पर अहं एवं अज्ञान बीच में आ रहा था– मैं बड़ा सेठ हूँ। उस गरीब के घर के सामने मेरी गाय रंभाये, यह ठीक नहीं। गाय के कारण दीनू से ईर्ष्या करने वाला सेठ सोचने लगा कि इसे कैसे दबाया जाय ? तभी उसे ध्यान आया कि दीनू ने गुड़–दलिया लिया था, जिसका चुकारा नहीं हुआ था। बस, उसे कारण मिल गया, वही
है, दीनू के माध्यम से।

अर्थात् आगे आने वाले पद का अर्थ होगा– अज्ञान मोह का नाश– 'अण्णाण मोहस्स विवज्जणाय', उसके बिना ज्ञान सर्व रूप से प्रकाशित नहीं होगा। ज्ञान है तो अज्ञान मोह को नष्ट हो जाना चाहिए, पर ऐसा हमेशा नहीं होता। कभी–कभी व्यक्ति सोचता है कि उसे ज्ञान हो गया है लेकिन वास्तव में पूर्ण ज्ञान नहीं होता, अज्ञान भी वहाँ जुड़ा रहता है।

भगवती सूत्र में शिवराजर्षि का कथन है, जब उन्होंने तापसी दीक्षा ली तब उन्हें अवधिज्ञान के विपरीत विभंगज्ञान हुआ। जितना वे देख रहे थे, उसे ही मान लिया कि उससे आगे कुछ नहीं है, सारा विश्व उतने में ही सीमित है। इस प्रकार ज्ञान तो हुआ पर साथ में अज्ञान भी रह गया। ऐसी स्थिति में ज्ञान–ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होगी। उसे प्रकाशित करना है तो अज्ञान और मोह को दूर करना होगा। अज्ञान और मोह पड़े रहेंगे तो ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होगा। यह भी होता है कि अज्ञान का स्वरूप क्या है इसे व्यक्ति जान नहीं पाता। अज्ञान का एक स्वरूप तो है अभाव, दूसरा है विपरीतता। वह किन–किन रूपों में व्यक्त होता है। इसे समझ लें।

गंगा और गोमती नाम की दो गायें थीं। हम जानते हैं कि लोग कभी–कभी पशुओं के भी नाम रख देते हैं। नाम लेने से ये पशु उस ओर दृष्टि कर देते हैं। आज तो घर में गायें कम ही मिलेंगी। हाँ कुत्तों के व्यवहार से हम भलीभाँति परिचित हैं। कोई आवाज लगाये– टॉनी, तो वह इस प्रकार से पुकारे जाने का अभ्यस्त होने के कारण उछल कर पास आ जाता है और मुँह ऊँचा करके देखने लगता है या भौंकने लगता है। तात्पर्य यह है कि नाम पुकारने के साथ ही वह अपनी हर्ष ध्वनि व्यक्त करता है। हम उसे समझ पायें या नहीं यह अलग बात है। गंगा और गोमती दोनों गायें साथ–साथ चरने जातीं और वापस साथ–साथ लौटती थी। दोनों में इतना स्नेह हो गया था कि एक साथ चरने जातीं और सायंकाल वापस साथ–साथ

किया जाता। कारण है, भारतीय नागरिकों की संग्रह—वृत्ति। वे चाहते हैं, अपनी पूर्ति कर लूं। पूर्ति तक तो कोई बात नहीं, पर जोड़—जोड कर रखना, चाहे भारत पर कितना ही कर्ज हो, यह तो अनुचित है। कर्जा है तो फिर दबने का प्रसंग बनेगा, कर्जदार ऊँचा माथा नहीं कर सकेगा। संसार में ऐसे तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं, जो किसी के सामने माथा ऊँचा नही कर सकते—

(1) जिसके घर से लक्ष्मी विदा हो चुकी है। वह सोचता है, समाज में मेरी प्रतिष्ठा नहीं रही, लोग मेरी हँसी उडायेंगे। (2) जो कर्जदार है, वह सिर उठाकर नहीं चल सकता। (3) जो किसी के उपकारों से बहुत दबा है, वह सिर उठाकर नहीं चल सकता।

दीनू ने कहा— मेरे पास जैसे ही पैसे आयेंगे, मैं कर्ज़ चुका दूँगा। सेठ ने सोचा— कहीं इसने सात दिन में चुकारा कर दिया तो बात नहीं बनेगी। मेरी योजना तो इसे फँसाने की है, ताकि गंगा यहाँ से निकल जाय। दलिये—गुड़ के कितने पैसे रहे होंगे ? पर गंगा का कोप दीनू पर था। वह सोता था, तब भी चैन नहीं पड़ता था। गंगा आँखों में झूलने लगती थी। सोता तो रंभाने की आवाज कानों में गूँजती। चिन्तन दौड़ा— कैसे उसे अलग करूँ ? संयोग बना— एक शाम दीनू ने देखा, गंगा के आने का समय हो गया था पर वह तब तक लौटी नहीं थी। काफी देर हो गई थी। छोटा बछड़ा बा—बा रंभा रहा था, भूख से व्याकुल जो था। पर गंगा नहीं आई। दीनू ने सोचा कहीं वह सेठ के घर तो नहीं चली गई। सेठ के घर पहुँचा तो सेठ भी बेचैन था— मेरी गोमती भी नहीं आई है। चलो दीनू देखें, पता नहीं आज दोनों को क्या हो गया ? दोनों निकले, जिधर से कुछ आवाज आती, उधर बढ़ने लगते। जंगल और अंधेरी रात, कैसे खोजें ? दीनू और सेठ दोनों गायों का नाम पुकारते हुए, आगे बढ़ रहे थे।

सहसा गंगा की आवाज सुनाई पड़ी। आगे बढ़े तो देखा— गंगा एक भेड़िये का मुकाबला कर रही थी। भेड़िया खतरनाक जन्तु होता है, छोटे पशुओं को मार कर खा जाता है। गंगा उस पर

एक दिन दीनू के घर वह पहुँचा और कहने लगा– "तुमने अभी तक पैसे नहीं चुकाये। देखो तुम्हें सात दिन की मोहलत देता हूँ, अन्यथा दुगनी रकम वसूल करूँगा और यदि एक माह में भी नहीं चुकाये तो चौगुनी वसूल करूँगा। यह था– अज्ञान के प्रकटीकरण का रूप। ऐसे अज्ञान को प्रोत्साहन देते रहें तो ज्ञान प्रकाशन की स्थिति ही नहीं बनेगी। यही है 'मन मंदिर में घुप्प है अंधेरा' वाली बात। मन मंदिर में यह अंधेरा है, अज्ञान का, अहं का। 'अहं' का ही एक रूप ईर्ष्या है। उसी से डाह, मत्सर आदि भाव पनपते हैं, जिनकी भिन्न–भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति होती है। आपने देखा होगा कि पानी उछलता है। खूब गरम कर दिया जाय और ढक्कन उघाड़ा जाय तो वहाँ से भाप निकलेगी। कोई चाहे उस भाप में मुँह देख लूं, तो मुँह झुलस जायेगा। यदि वही ठंडे पानी का बर्तन हो तो उसमें मुँह देखा जा सकेगा। इसी प्रकार हमारे भीतर के दर्पण की बात है। जब उसमें अहं का या क्रोध का उबाला आ जाता है, भाप निकलने लगती है, तब वहाँ आत्मा के भाव तिरोहित हो जाते हैं। ज्ञान का प्रकाश लुप्त हो जाता है।

बात छोटी सी थी, पर सेठ के मन में फितूर आ गया। गरीब किसान के साथ खेल–खेलने लगा। अत्याचार और शोषण की प्रवृत्ति उसमें उत्पन्न हो गई– "यदि सात दिनों में नहीं चुका सकते तो अपनी गंगा को बेच दो।" उसकी आँख में गंगा किरकिरी बन कर खटकने लगी थी। गंगा के कारण यह गोमती रंभाती है। वह चाहता था कि यदि यह निकल जायेगी तो फिर गोमती नहीं रंभाएगी। इसलिए वह दबाव डालने लगा।

आजकल कुछ नीतियाँ ऐसी ही हैं। चाहे पारिवारिक क्षेत्र हो, सामाजिक या धार्मिक हो अथवा राजनीतिक क्षेत्र – सभी जगह दबाव की नीति अपनाई जाती है। कहाँ, कैसे, किसे दबाया जाय, यही ध्यान रखा जाता है। कभी–कभी कहते हैं, भारत पर ऋण है, अन्य देशों का दबाव पड़ रहा है, किन कारणों से ? कारणों पर तो विचार नहीं

किया जाता। कारण है, भारतीय नागरिकों की संग्रह–वृत्ति। वे चाहते हैं, अपनी पूर्ति कर लूं। पूर्ति तक तो कोई बात नहीं, पर जोड़–जोड़ कर रखना, चाहे भारत पर कितना ही कर्जा हो, यह तो अनुचित है। कर्जा है तो फिर दबने का प्रसंग बनेगा, कर्जदार ऊंचा माथा नहीं कर सकेगा। संसार में ऐसे तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं, जो किसी के सामने माथा ऊँचा नहीं कर सकते--

(1) जिसके घर से लक्ष्मी विदा हो चुकी है। वह सोचता है, समाज में मेरी प्रतिष्ठा नहीं रही, लोग मेरी हंसी उड़ायेंगे। (2) जो कर्जदार है, वह सिर उठाकर नहीं चल सकता। (3) जो किसी के उपकारों से बहुत दबा है, वह सिर उठाकर नहीं चल सकता।

दीनू ने कहा– मेरे पास जैसे ही पैसे आयेंगे, मैं कर्जा चुका दूँगा। सेठ ने सोचा– कहीं इसने सात दिन में चुकारा कर दिया तो बात नहीं बनेगी। मेरी योजना तो इसे फँसाने की है, ताकि गंगा वहां से निकल जाय। दलिये–गुड़ के कितने पैसे रहे होंगे ? पर गंगा का कोप दीनू पर था। वह सोता था, तब भी चैन नहीं पड़ता था। गंगा आँखों में झूलने लगती थी। सोता तो रंभाने की आवाज कानों में गूँजती। चिन्तन दौड़ा– कैसे उसे अलग करूं ? संयोग बना– एक शाम दीनू ने देखा, गंगा के आने का समय हो गया था पर वह तब तक लौटी नहीं थी। काफी देर हो गई थी। छोटा बछड़ा बा–बा रंभा रहा था, भूख से व्याकुल जो था। पर गंगा नहीं आई। दीनू ने सोचा कहीं वह सेठ के घर तो नहीं चली गई। सेठ के घर पहुंचा तो सेठ भी बेचैन था– मेरी गोमती भी नहीं आई है। चलो दीनू देखें, पता नहीं आज दोनों को क्या हो गया ? दोनों निकले, जिधर से कुछ आवाज आती, उधर बढ़ने लगते। जंगल और अंधेरी रात, कैसे खोजें ? दीनू और सेठ दोनों गायों का नाम पुकारते हुए, आगे बढ़ रहे थे।

सहसा गंगा की आवाज सुनाई पड़ी। आगे बढ़े तो देखा– गंगा एक भेड़िये का मुकाबला कर रही थी। भेड़िया खतरनाक जन्तु होता है, छोटे पशुओं को मार कर खा जाता है। गंगा उस प

बार-बार सींगों से प्रहार कर रही थी। वह थोड़ी दूर जाता है पर फिर गोमती की ओर लौटने का प्रयास करता, गंगा फिर उसे हटाने की कोशिश करती। दीनू को देखते ही गंगा जोर-जोर से रंभाने लगी। भेडिया को मौका मिला, वह फिर उधर बढ़ने लगा। गोमती ने एक बछडे का प्रसव किया था। भेड़िया उसे अपना आहार बनाना चाहता था। गंगा उसे बचाने के लिए, भेड़िये से जूझ रही थी। यह दृश्य देख कर सेठ की ऑखें खुल गईं। वह तो गंगा का बुरा सोच रहा था। पर गंगा ने तो गोमती के बछड़े को बचाया था। सेठ ने दीनू का हाथ पकड़ा- भाई ! मित्रता हो तो ऐसी हो, जैसे इन दोनों की। इसने तुम्हारा कर्ज ही नहीं उतारा, मुझ पर कर्ज चढ़ा भी दिया है। भाई, अब ध्यान रखना, इसको सूखी घास मत खिलाना। मैं अपने घर से घास की व्यवस्था करवा दूंगा। क्योंकि मुझ पर जो ऋण चढ़ा है, उसका भुगतान मुझे करना है। तो हम समझें कि बात घटना की नहीं, उस संदेश की है, जो इस घटना से मिलता है।

मन मंदिर के घुप्प अंधेरे में ज्ञान-ज्योति प्रकट हो जाय, आलोक भर जाय, ऐसी स्थिति बने, इस हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिये। ऐसा आलोक प्रकट करने के लिए प्रभु ने कहा है- 'अण्णाण मोहस्स विवज्जणाय' अज्ञान-मोह पड़ा रहा तो ज्ञान प्रकट नहीं होगा। अज्ञान के भिन्न-भिन्न रूप हैं। कभी वह किसी रूप में प्रभावित करता है तो कभी किसी अन्य रूप में- जैसे, क्रोध, मान, माया, ईर्ष्या, लोभ, डाह मत्सर आदि। ये अज्ञान की पर्यायें हैं, पुत्र हैं, जिन्हें वह अपने अनुचरों के साथ भेजता है। सेठ हस्तीमल के अन्दर भी अज्ञान पैदा हुआ था, पर गंगा की कार्य-शैली ने उसे ज्ञान में परिवर्तित कर दिया। व्यक्ति की कार्य-शैली, किसी भी संशय का समाधान कर देती है।

[illegible] गया।

व्यक्ति के भीतर अलग–अलग वृत्तियाँ उभरती रहती हैं। ये तीन प्रकार की वृत्तियाँ कही गई हैं–सात्विक, राजसी, तामसिक। तामस वृत्ति अज्ञान का ही प्रतीक है। तामसी का भावों से सम्बन्ध होता है। जहाँ चिनगारी है, वहाँ तपन बढ़ेगी। वैर से वैर की परम्परा बढ़ेगी। अज्ञान का पर्दा सघन होगा। राजसी वृत्ति राजसी या तामसी वृत्ति से टकरायेगी तो वहाँ भी अशान्ति उत्पन्न होगी। पर यदि सात्विक वृत्ति उभर आई तो शांति का वातावरण बन जायेगा। अर्जुन माली में तामसी वृत्ति थी पर जब सेठ सुदर्शन की सात्विक वृत्ति से उसकी टकराहट हुई तो सात्विक वृत्ति के सामने तामसिक वृत्ति टिक नहीं पाई। उसे मिटना ही पड़ा। दया–करुणा का प्रादुर्भाव अनोखा आलोक बिखेर देता है। कौरव–पांडवों के बीच युद्ध हुआ। राजसी से, राजसी वृत्ति टकराई तो दुर्योधन का नाश हुआ पर वृत्ति शांत नहीं हुई। तामसी वृत्ति से कंस, जरासंध की टकराहट हुई पर सुधार नहीं हुआ बल्कि वैरानुबंधी वैर की परंपरा जुड़ती चली गई। अज्ञान की घनी अंधेरी रात्रि में जुगनू की चमक कितना प्रकाश करेगी ? कभी–कभी किरणें चमकती हैं पर तामसी वृत्ति उन्हें आच्छादित कर लेती है। किरणें फैल नहीं पातीं। यदि ज्ञान का सम्पूर्ण रूप से आलोक करना है तो तामसी और राजसी वृत्तियों का शमन करना होगा, तभी ज्ञान–ज्योति का प्रकटीकरण होगा, अन्यथा जुगनू की भाँति टिमटिमाते प्रकाश को तामसी वृत्ति दबोच लेगी। सात्विक वृत्ति से ज्ञान की किरण को बढ़ाया जाना चाहिये, क्योंकि यदि अनु.७

सहयोग न मिला तो ज्ञान का प्रकाश अहं से विषाक्त हो जायेगा। जैसे दीप में तेल, बाती तो हो पर प्रकाश की लौ न मिले तो आलोक नहीं फैलेगा। यदि उस तेल में पानी मिल जाये तो भी ज्योति लड़खड़ायेगी। वैसे ही अहं का पानी ज्ञान की ज्योति को दुर्बल बनाता है। अतः अज्ञान और मोह को दूर करें तभी ज्ञान–ज्योति प्रकट होगी तथा आलोक विकीर्ण करेगी। ज्ञान–ज्योति को सही तरीके से आलोकित करने के लिये सात्विक वृत्ति का विकास करें, गहनता से आत्म–निरीक्षण एवं आत्म समीक्षण करें, तभी राजसी, तामसी वृत्ति शिथिल होंगी तथा सात्विक वृत्ति का उभार होगा। जब ऐसा होगा, तभी विमल जिनेश्वर के दर्शन होंगे और सभी आत्मप्रदेश ज्ञान से आलोकित हो जायेंगे।

दि. 5-11-96

१७. ज्ञान की खोज का मार्ग

प्रत्येक पदार्थ ज्ञेय है क्यों कि उसमें प्रमेयत्व गुण होता है। प्रमेयत्व का गुण न हो तो वह ज्ञेय नहीं हो सकता। जिसमें वर्ण हो– वह आँखों का, जिसमें गंध हो– वह नासिका का, जिसमें रस हो– वह जिह्वा का तथा जिसमें स्पर्श हो– वह त्वचा का विषय बन सकता है। उसी प्रकार जिसमें प्रमेयत्व गुण है, वह ज्ञान का विषय बन सकता है। आत्मा उसे जान सकती है। जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, वे सत् रूप हैं। असत् कभी पदार्थ की स्थिति ही नहीं होती। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त सत् है। सत् पदार्थों को ही ज्ञान अपना विषय बनाता है। चाहे वे सत् पदार्थ जीव रूप हों या अजीव रूप हों। वे ज्ञेय होते हैं, ज्ञान के विषय होते हैं। सम्पूर्ण द्रव्यों का ज्ञान किया जा सकता है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है, जो हमसे अज्ञात रह जाय। जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश हो जाय अथवा हो गया हो, वहाँ कोई भी सत् पदार्थ अदृष्ट नहीं रह सकता। यदि अदृष्ट रह भी जाय तो समझना चाहिये कि आँखों की रोशनी ही खराब है। ज्ञान के प्रकाश की सूर्य के प्रकाश से उपमा दी जाती है, जिसमें सब कुछ दिखाई देता है। तो यहाँ तक कहा गया है कि 'सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके।'

सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश अनंत–अनंत सूर्यों के प्रकाश को भी मंद करने वाला होगा। ऐसा इसलिये कहा गया है, क्योंकि सूर्य के प्रकाश में भी जो पदार्थ देखे नहीं जा सकते, वे आत्मा के ज्ञान–प्रकाश से मूर्त रूप में देखे जा सकते हैं। हमारी आँखें तो रूपी पदार्थों को और उनमें भी जिनका नैकट्य है, उन सीमित पदार्थों को ही देख पाती हैं, जब कि सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश में सम्पूर्ण रूपी–अरूपी पदार्थों को देखा जा सकता है।

प्रश्न होगा अरूपी को कैसे देखा जा सकता है ? अरूपी का अर्थ यह नहीं कि उसका कोई रूप है ही नहीं। उसमें वर्णादि चतुष्क न होने से वह अरूपी जरूर है, पर अपने स्वरूप से वह रूपवान है। इस प्रकार प्रथम चार ज्ञान से भले अरूपी पदार्थ अदृश्य हों पर केवल ज्ञान से, वे भी देखे जा सकते हैं। यह भी सही है कि चार ज्ञान स्वयं अरूपी हैं पर उनका विषय रूपी को जानना है, जब कि केवलज्ञान का विषय रूपी–अरूपी दोनों को जानना है। सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकटीकरण केवलज्ञान में होता है और वही उसे प्रकट करने के लिए आवश्यक है। अज्ञान और मोह का विवर्जन होना भी आवश्यक है।

यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि यदि अज्ञान और मोह का वर्जन हो गया हो तो क्या सम्पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जायेगा ? यदि हाँ तो फिर आगे यह पद क्यों रखा गया है–

'रागस्स दोसस्स य संखएणं।'

ग्यारहवें गुणस्थान–उपशान्त मोह गुणस्थान में अज्ञान और मोह दोनों का उदय नहीं है लेकिन सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, वहाँ नहीं होता। बारहवें गुणस्थान में राग–द्वेष का सम्पूर्ण क्षय हो गया पर वहाँ भी सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकटीकरण नहीं होता। चूंकि ज्ञानावरणीय कर्म की सत्ता मौजूद होती है। 13वें गुणस्थान में ज्ञानावरणीय कर्म की सत्ता भी समाप्त हो जाती है, तब सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है। अज्ञान और मोह तो 11वें गुणस्थान में उपशान्त हो गये फिर राग–द्वेष को कैसे छोड़ा जाय ? छोड़ना भारी नहीं है, पर छोड़ नहीं पाते। इसका भी कारण है क्योंकि हमने इनको ठीक से जाना भी नहीं है। यदि कोई चीज महत्वपूर्ण हो और उसका मूल्य भी कम हो तो अनेक लोग उसे लेने के लिये तैयार हो जायेंगे। मान लीजिए किसी प्रसिद्ध कालोनी में सस्ते मकान मिल रहे हों, फिर तो लोग लेने के लिए तैयार हो जायेंगे, भले ही वे शहर में रह रहे हों, क्योंकि वे जानते हैं कि उनकी कीमत बढ़ेगी। किन्तु राग भाव हट गया तो 13वें

गुणस्थान में जाने के बाद, वह भटकेगा नहीं। क्योंकि उसने वहाँ का स्वाद ले लिया है। हम जानते हैं कि भ्रमर फूलों का मकरन्द लेने के बाद स्वयं को वहाँ से अलग करना नहीं चाहता। उसी प्रकार 13वें गुणस्थान से वह लौटता नहीं है। जब कि 11वें गुणस्थान से तो लौट सकता है। जिस आत्मा में ज्ञान का सम्पूर्ण प्रकाश हो गया होता है, वह आत्मा मोक्ष के सुख को प्रत्यक्ष देख लेती है। एक बार वह उस सुख को देख लेती है फिर वह उसे छोड़ नहीं सकती। क्योंकि वहाँ एकान्त सुख होता है तथा दुःख का लेश भी नहीं होता। ऐसा सुख वह आत्मा प्राप्त कर लेता है, तब वह क्यों उस सुख को छोड़ेगा ?

एक बात और समझ लीजिये। कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता आवश्यक है। धर्म साधना भी कर्त्तव्य है, जिसे हमने रूटीन बना लिया है। महाराज के व्याख्यान में समय पर पहुँचे, वहाँ उपयुक्त पोशाक भी पहन ली, समय पर लौट गये, लेकिन अपने कर्त्तव्य के प्रति सजगता नहीं है तो समझ लीजिये कि सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश नहीं हो पायेगा।

पूज्य गुरुदेव फरमाते हैं– संतों के पास आकर कोरी बातें करना मीठा कचरा है। व्यक्ति को इसमें रस आता है पर इससे प्राप्त क्या होने वाला है ? यदि जीवन को सार्थक करना है तो ज्ञान का वह प्रकाश, जो अपने भीतर है, उसे प्रकट करना आवश्यक है। यदि जीवन को सार्थक करना है तो हम जिस पोशाक में हैं तदनुरूप अपना कर्त्तव्य अदा करें। यदि सामायिक में हैं तो समभाव की आराधना करें, यदि पौषध व्रत में है तो समझें कि पौषध का तात्पर्य क्या है ? वस्तुतः पौषध का तात्पर्य है– आत्मा का पोषण करना। उपवास कर रहे हैं तो हम आत्मा के समीप रहें– 'उप समीपे' निकट पहुँचे। कषाय वृत्ति को उपशांत करें। तपस्या में कषाय उत्तेजित होते हैं। गुस्सा आता है तो उपवास सार्थक नहीं होता। सामायिक की साधना इसीलिए है कि अंतर में जितनी सहिष्णुता है, जितनी समता है, उसे और आगे बढ़ाया जाय। सामायिक–साधना शरीर की **बैटरी**

चार्ज करने का उपकरण है। एक सामायिक पूरे दिन के लिए समभाव वृत्ति उत्पन्न करती है। अतः सहिष्णुता के भावों को भरने के लिए सामायिक करें। यदि सहिष्णुता का तार टूट रहा है तो ठीक प्रकार से पुनः उसें जोडें। अन्यथा ऑफिस में समय पर पहुँचने पर भी शिकायत होगी। यदि कर्त्तव्य के प्रति सजगता आ गई तो फिर शिकायत नहीं सुननी पड़ेगी। फिर समभाव में बाधा नहीं आयेगी। शव्द आ भी गये तो विचार बनेंगे। कह दिया तो कोई बात नहीं। यह उनका अज्ञान था। सामायिक की पोशाक खोज की दिशा में अग्रसर करती है। खोज किसकी करनी होती है ? अनुसंधान किसका करना होता है ? आत्मा का अनुसंधान करना होता है, किन्तु कर नहीं पाते हैं। सामायिक करना है, अतः औपचारिकता के रूप में कर लेते हैं। पर जो लाभ लेना है, वह लिया या नहीं, यह सोचने की बात होती है। सामायिक में बैठ कर स्वाध्याय कर लिया, इससे पुण्य–बंध तो हो जायेगा पर मात्र औपचारिकता से जितना चाहिए, उतना लाभ नहीं मिल पायेगा।

पूणिया श्रावक सिर्फ कपड़े बदल कर नहीं बैठता था, उसके भीतर हृदय में मंथन चलता रहता था। इस मंथन में वह इतना लीन हो जाता था कि पड़ोस में क्या हो रहा है, इसकी उसे खबर ही नहीं होती थी। सम्राट् श्रेणिक आये तो भी उसे पता नहीं चला। उठकर उनका आदर नहीं किया। सम्राट् के आने की खबर भी उसे कैसे पडती, क्योंकि वह तो अपने भीतर के सम्राट् की खोज में लगा था। उसे बाहर के सम्राट् के आने का पता कैसे चलता ? हमने कह दिया, उसने राजा का आदर–सत्कार नहीं किया। पर वस्तुतः श्रेणिक तो अनाथ था। पूणिया श्रावक नाथ की खोज में था। फिर उसका ध्यान अनाथ की ओर कैसे जाता ? उसकी गति, उसकी खोज, अन्य दिशा में चल रही थी। उसे जब पता ही नहीं चला तो आदर–सत्कार किसका करता ? अतः हमारी नाथ की खोज जारी रहनी चाहिए। यदि रुकावट आती है तो उसे उपदेश श्रवण कर तथा अभ्यास से दूर करने का प्रयास करिये। कहावत भी है–

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ही, सिल पर परत निशान।।

आजकल तो रस्सी का काम ही नहीं पड़ता, कुँए से पानी कौन निकाले ? आज तो नल चालू किया और पानी प्राप्त हो गया। लेकिन जहाँ पर नल चल रहा है, वहाँ भी पानी पड़ते–पड़ते पत्थर में छेद हो जाता है। जैसे पानी में इतनी शक्ति है कि यदि बार–बार वह पड़ता रहे तो पत्थर को भी काट देता है, वैसे ही हमारे भीतर भी अनन्त गुणी शक्ति विद्यमान है पर हम राग–द्वेष की परतों को हटाकर उस शक्ति को उद्घाटित नहीं कर पाते हैं। अज्ञान और मोह का वर्जन नहीं कर पाते हैं। सूर्य की किरणें भी प्रहार करती हुई बादलों को चीर कर सूर्य को प्रकट कर देती है और प्रकाश बाहर आ जाता है। वैसे ही हम अपनी आध्यात्मिक साधना के प्रयोग द्वारा समीक्षण प्रज्ञा को जागृत करें। अज्ञान और मोह को जान कर उनके वर्जन का प्रयास करें। राग और द्वेष का क्षय करें तो हमारे भीतर सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो जायेगा। श्रेणिक राजा अकेला नहीं आया होगा। उसके साथ और भी लोग आये थे। पर पूणिया श्रावक को पता नहीं चला। कितनी तन्मयता रही होगी, उसकी साधना में। उसका आत्म अनुसंधान गहन था। उसका जीवन सधता चला गया। जहाँ सर्वांगीण ज्ञान नहीं होता, एकांगी ज्ञान होता है, वहाँ कभी–कभी डूबने की स्थिति भी बन जाती है।

आलस्य और प्रमाद को त्याग कर अनुसन्धान में लगे रहें तथा पुरुषार्थ करते रहें तो ज्ञान की प्राप्ति संभव है। आलस्य और प्रमाद ज्ञान को प्रकाशित नहीं होने देते। यह भी आवश्यक है कि अज्ञान और मोह को त्यागा जांय। पुद्गलों की आसक्ति से बचा जाय। क्योंकि यदि जीवन पुद्गलमय बन गया तो ज्ञान का प्रकाश नहीं हो पायेगा। अतः हम राग–द्वेष का क्षय कर सम्पूर्ण ज्ञान का आलोक प्रकट करने की दिशा में अग्रसर हों।

दि. 6–11–96

१८. विवेक-जागरण की आवश्यकता

प्रभु महावीर ने भव्यात्माओं को संबोधित करते हुए कहा था–'णाणस्स सव्वस्स पगासणाए'। उनका यह कथन कितना अर्थपूर्ण है, यह समझ पाना कठिन नहीं है। ज्ञान के प्रकाश के बिना जीवन अंधकार से परिपूर्ण अवस्था में रहता है और यह भी ज्ञात नहीं होता कि क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है ? ऐसी स्थिति में मनुष्य समझ ही नहीं सकता कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ? इस विवेक का जागृत होना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि जव तक विवेक जागृत नहीं होता, तब तक व्यक्ति अपने जीवन की दिशा व दशा बदल नहीं पाता। दिशा बदलने के पूर्व दशा को वदलना होता है और दशा बदलने के लिए आवश्यक है कि हमें हेय, ज्ञेय, उपादेय का बोध हो ताकि हम छंटनी कर सकें और समझ सकें कि क्या हेय है, क्या उपादेय है।

हम आस्रव की वात भी करते हैं, जो पाँच प्रकार के कहे गये हैं तथा जिनमें योग को भी आस्रव कहा गया है। योग का जो परिणमन होता है वह है आस्रव। इस संदर्भ में यह भी समझना होगा कि क्या योग का परिणमन मात्र ही आस्रव है ? क्योंकि हम कहते हैं कि अशुभ योग आस्रव, शुभ योग संवर। योगों की प्रवृत्ति चाहे किसी भी व्यक्ति में हो, चाहे तीर्थंकरों में ही हो, पर जहाँ योग है अर्थात् प्रवृत्ति है, वहाँ आस्रव होता है, आदान होता है, प्रवृत्ति मात्र से कर्मों का ग्रहण होता है।

तीर्थंकर भी विहार करते हैं, बोलते हैं, उनमें भी ईर्यापथिकी क्रिया होती है, उससे कर्मों का आदान भी होता है। कहा भी गया है–

"जा जा क्रिया सा सा फलवती"।

विद्यमान होता है, वहाँ उसकी प्रधानता होती है। दूसरे कर्मो को भी हिस्सा मिलता है पर वहाँ प्रधानता नहीं है एवं काषायिक भाव तीव्र नहीं होने से स्थिति बंध प्रगाढ़ नहीं होता। इसलिए शुभ योग को संवर की परिभाषा दी गई है, क्योंकि जो बंध हुआ है, उसकी अवधि गहन नहीं होती तथा पुनः शुभ अध्यवसायों से उन्हें साफ भी किया जा सकता है पर यदि योग प्रवृत्ति में विवेक बन जाय कि अशुभ का वर्जन करें एवं शुभ का अर्जन करें।

33 बोल के 32वें बोल में कहा गया है– शुभ योग का संग्रह करें ताकि हममें अशुभ का प्रवेश नहीं हो। यदि हो भी जाये तो उसका सफाया कर सकें और हमारे भीतर ज्ञान का प्रकाश पैदा हो जाय। वैज्ञानिकों ने इसे 'रीजनिंग माइन्ड' की संज्ञा दी है। यह ऐसी मशीनरी है, जिसमें छँटनी होती है। देखा जाता है कि कौन योग्य है, किसकी–किसकी प्रधानता है आदि। 'न्याय' की भाषा में इसे 'एयाति' कहते हैं। यह विवेक एयाति, ज्ञान–ज्योति जिसमें प्रकट हो जाय, वह सही निर्णय ले सकता है।

एक दृष्टांत लें। शीत ऋतु के दिन थे, कड़ाके की ठंड़ पड़ रही थी। सेठ देवीचन्द की हवेली वैसी ही बिल्डिंग थी, जैसी बड़े लोग बनाते हैं। वह हवेली भी हवादार थी। जबरदस्त कोहरा पड़ रहा था, शीत लहर चल रही थी। उस लहर की चपेट में सेठ देवीलाल को भी ज्वर हो गया। उनकी पत्नी ने देखा कि बाहर तो ठंड पड़ रही है पर शरीर भयंकर रूप से तप रहा है। शायद 105 डिग्री बुखार आ गया हो। घर में लड़का था ज्ञानचंद, जो सोया हुआ था। माता ने कहा– बेटे ! उठो, पिताजी को ज्वर है। पास में ही वैद्य जी के घर से दवा ला दो। ज्ञानचंद को उठना सुहा नहीं रहा था। सर्दी के कारण रजाई में दुबका पड़ा था। सोच रहा था क्या जल्दी उठना सर्दी में ? गर्मी में भी आठ बज जाते हैं तो फिर सर्दी का तो कहना ही क्या। जगने का मन ही नहीं हो रहा था। पर जब माँ ने कहा तो फिर रजाई से निकला, उसे लगा कि उसका सारा शरीर प्रकम्पित हो

रहा था। दरवाजा खोला तो हवा का जो ठण्डा झोंका आया उससे उसका हौंसला पस्त हो गया– कैसे जाऊँ ? कड़ाके की सर्दी है। नहीं जा पाऊँगा। पर माँ ने कहा है– पिताजी बीमार हैं, कैसे कहूँ ? वह असमंजस में पड़ा था। इतने में ही दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी। उसने झट दरवाजा खोला तो देखा एक युवक द्वार पर खड़ा था। शरीर पर फटे–पुटाने कपड़े थे। कंधे पर मात्र एक तौलिया था। न गरम कम्बल, न पूरे कपड़े। ज्ञानचंद ने उसे निहारा, इतनी कड़ाके की सर्दी में यह दस्तक दे रहा था। ज्ञानचंद की आँखों में कुछ चमक आ गई। पूछा– क्या बात है ? आगंतुक युवक ने कहा– मैं दो दिनों से भूखा हूँ, भोजन नहीं किया है। भोजन की आशा से आया हूँ। ज्ञानचन्द ने देखा– मौका अच्छा है। मैं तो ठंड में जा नहीं सकता और इसे भूख लगी है क्यों न इससे दवा मंगवा कर फिर भोजन दे दूँ। इसे भूख की गरज है और मेरा काम निकल जायेगा। उसने कहा भाई– तुम्हें भर पेट भोजन देंगे पर जो मैं कहता हूँ , वह काम कर दो। पास में ही वैद्यजी का घर है, वहाँ से दवाई ला दो। उस फटेहाल युवक ने कहा– मैं भूखा हूँ , मेरी जान निकल रही है। पहले भोजन करा दो। ज्ञानचन्द ने कहा– पिताजी बीमार हैं, ज्वर से शरीर तप रहा है, उन्हें दवाई देनी है, पहले दवाई ला दो, फिर भोजन देंगे। क्या ऐसा होता है ? यह तो लाचार की लाचारी से लाभ उठाने की बात हुई। हम जानते हैं कि मौके का फायदा उठाने की कोशिश की जाती है पर क्या उचित है ?

कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं–

> चरण कमल कमला बसे रे,
> निर्मल स्थिर पद देख।

व्यक्ति लक्ष्मी की आकांक्षा करते हैं। पूज्य गुरुदेव कई बार फरमाया करते हैं कि लोगों की आदत है, लक्ष्मीजी की तस्वीर ले आयेंगे, या काँच में मढ़ी हुई तस्वीर ले आयेंगे। अगरबत्ती आदि जला कर उसके सामने आरती उतारेंगे– 'ओम जय लक्ष्मी मैया' आरती

गायेंगे और सोच लेंगे, अब हमारे घर सम्पत्ति आ जायेगी। यदि ऐसे लक्ष्मी आती होती तो भारत को गरीब देश की संज्ञा क्यों दी जाती ? न जाने कितने लोग इस महालक्ष्मी की मनौतियाँ करते हैं पर वह रूठी ही रहती है, आती ही नहीं। वह आती है पर कहाँ– 'देवावि तं नमं संति, जस्स धम्मे सया मणो', जहाँ धर्म रहता है, वहाँ। तीर्थंकरों की सेवा में 'लक्ष्मीपति' देव भी तत्पर रहते हैं, फिर वह तो पीछे–पीछे स्वयं चली आती है।

प्रभु महावीर की सेवा में स्वयं इन्द्र पहुँचे, निवेदन किया– "भगवन् ! आपको परिषह उपसर्ग आते हैं। कोई कोड़े मार कर तो कोई कीले ठोक कर उपसर्ग पहुँचाता है। ये अनाड़ी समझते नहीं हैं। आप आदेश करें, हम सेवा में प्रस्तुत हैं।" प्रभु ने कहा– शक्रेन्द्र ! तुम्हारा धर्म के प्रति, शासन के प्रति अनुराग है, इसलिए तुम यह बात कर रहे हो। तुम्हारी भावना शुभ है, इसका तुम्हें लाभ मिलेगा। पर तीर्थंकर स्वावलम्बी होते हैं। स्वयं कर्म काटने के लिए परिषहों का आह्वान करते हैं। जितना भी परिषह, उपसर्ग देना है, खूब दे दो, ताकि जल्दी कर्म कट जायें। इसलिए वे सहारा लेकर नहीं चलते। जहाँ धर्म का निवास है, वहाँ देव भी तत्पर हैं। फिर लक्ष्मी की तो बात ही क्या ? तब हम समझ लें कि यदि उस लक्ष्मी की आराधना करना है तो विवेक पूर्वक की जाय। यह आराधना भी भाव लक्ष्मी की करनी चाहिये। आप स्वयं अपने हिसाब से सोचें कि भाव लक्ष्मी को कैसे प्राप्त करना है। मैं तो कहता हूँ प्रत्येक व्यक्ति इस हेतु प्रयास करे तो अच्छी बात, सामर्थ्य है तो प्रयासरत रहना चाहिए। आमोद–प्रमोद से तो धन, लक्ष्मी की दीपावली बहुत मनाई जाती है पर प्रभु के पद चिह्नों पर चल कर भाव लक्ष्मी, आध्यात्मिक दीपमालिका का भी अनुभव करें कि उससे कैसे आनन्द की अनुभूति होती है। कवि कह रहे हैं– लक्ष्मी को पाने के लिए लोग उसके पीछे दौड़ते हैं पर प्रभु वह लक्ष्मी तो आपके चरणों में लोटती है और आपको छोड़ कर जाना नहीं चाहती।

व उसकी माता देख रहे थे कि यह गाँव का लड़का है। इसे ठंड भी नहीं लगती। मात्र एक तौलिया डाले हुए है। बलिष्ठ शरीर वाला है। यदि इसे नौकर रखें तो सर्दी में बाहर निकलना भी नहीं पड़ेगा। भोजन के पश्चात् पूछा– क्या तुम्हें नौकरी करनी है ? उसने उत्तर दिया– हाँ ! मैं तो नौकरी की तलाश में ही निकला था। एक दिन तो अपने साथ के साधनों से गुजारा किया था। साधन समाप्त हो गये, नौकरी नहीं मिली। वैसे मैं कोई भिखमंगा नहीं हूँ, पर पेट की ज्वाला बढ़ गई और मैं यहाँ भोजन की आशा से चला आया। यदि नौकरी मिल गई तो जरूर करूँगा। उसे रख लिया गया। शाम को उससे कहा गया– जाओ कुँए पर गाय भैंस को दुह कर आ जाओ। वह तत्परता से गया और दूध लेकर आ गया। रात्रि के समय सभी लोग कमरे बंद करके सोने लगे। ज्ञानचंद की माँ ने युवक से कहा– यहाँ बरामदे में सो जाओ। उसने कहा– बाहर मुझे ठंड लगेगी, एक कम्बल दे दो तो मैं बाहर रात बिता लूँगा, नहीं तो किसी कमरे में; ताकि कम्बल नहीं भी हो तो भी रात बिता लूं। उस सेठ की क्या बात करें, कई घरों में ऐसा प्रसंग उत्पन्न होता है। पर आज युग बदला है। आज तो कहते हैं– नौकर नहीं मिलता, कैसे मिलेगा ? आपने उसकी लाचारी का खूब लाभ उठाया है तो अब वह आपकी लाचारी का लाभ उठाता है। शास्त्रों में वर्णन आता है कि पहले राजा व सेठ नौकर को कौटुम्बिक पुरुष कहते थे अर्थात् अपने ही परिवार का सदस्य मानते थे। इसलिये जो आदेश वे देते तो नौकर भी दौड़कर उसे पूरा करते थे। व्यवहार क्षेत्र में यह जरूरी है। अस्तु, ज्ञानचंद ने कहा– जब सुबह तुम मेरे पास आये थे, उस समय तुम्हें ठंड नहीं लग रही थी, केवल एक टावेल तुम्हारे पास था ? उसने कहा– ठंड तो उस समय भी लग रही थी पर उस समय मैं विवश था। आपने दवाई लाने भेजा, इच्छा नहीं थी पर जाना पड़ा। क्योंकि मुझे पेट की ज्वाला को शांत करना था। पेट की आग बुझाने के पश्चात् दिन में तो धूप निकल गई थी, समय निकल गया। ज्ञानचंद ने कहा– शाम को भी तुम गाय–भैंस दुहने गये तब क्या ठंड नहीं लग रही थी ?

उसने उत्तर दिया– नहीं, ठंड तो मुझे उस समय भी लग रही थी पर उस समय कृतज्ञता का भाव था– इन्होंने मुझे भोजन कराया है, अन्न से मेरे पेट की आग को बुझाया है तो मेरा भी नैतिक कर्त्तव्य है, मैं इनका कार्य करूँ और मैं दूध निकालने चला गया। उस समय मैंने ठंड को नजर–अंदाज कर दिया। इस समय न भूख लगी है, न किसी प्रकार के प्रत्युपकार के भाव हैं। ऐसे समय में बाहर सोने पर ठंड लगेगी। ज्ञानचंद ने देखा– भले यह आफत का मारा है पर इसकी बुद्धि निर्मल है। यदि इसे थोडा सा सहयोग मिल जाय तो यह आगे उत्थान भी कर सकता है। ज्ञानचंद के मन में करुणा जगी। वह कहने लगा– गोपाल ! घबराओ मत, यह लो कमरे की चाबी और उसमें सो जाओ। ज्योंही उसने कदम बढाये, ज्ञानचंद की माँ ने एक गरम कम्बल देते हुए कहा– लो गोपाल यह कम्बल ओढ़ लेना। यह विवेक का जागरण था।

हम भी ज्ञान रूपी लक्ष्मी से भीतर के विवेक को जागृत करें फिर वह विवेक जीवन को उत्थान की ओर बढायेगा। गोपाल को थोड़ा सा सहयोग, स्नेह, वात्सल्य, प्यार मिला, वह सदा–सदा के लिए उस घर का सदस्य बन गया। जहाँ जान–पहचान नहीं थी पर इन्सानियत का तकाजा था; वह अपनत्व से जुड़ गया। प्रेम व कर्त्तव्य इस प्रकार आगे बढाते हैं। लक्ष्मी को पाना है तो पहले कर्त्तव्य पर दृष्टिपात करें। दृढ़ता से आरूढ़ हों, विकट परिस्थिति में भी विचलित नहीं हो तो पथभ्रष्ट नहीं होंगे, सफलता प्राप्त हो सकेगी। हो सकता है, उस समय आपकी परीक्षा भी हो जाय, थोड़ी कठिनाई भी हो सकती है लेकिन तभी व्यक्ति की पहचान होती है।

कहा गया है– 'दुःख है ज्ञान की खान, ममता दुःख है ज्ञान की खान।' जिसने जीवन में दुःख नहीं देखा है, उसे सुख का स्वाद भी नहीं आ सकता। जिसने दुःख का दर्द नहीं सहा, उसे सुख का स्वाद भी नहीं मिलेगा।

शांत–क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय गणेशाचार्य के जीवन का प्रसंग है। पाँच साधु जिस समय विहार करके जा रहे थे एक ऐसी जगह पहुँचे जहाँ शाकाहारी घर नहीं थे, गोचरी नहीं हुई। दूसरे व तीसरे दिन भी योग नहीं बैठा। शायद चौथा दिन हो, संत दो गाँवों में गोचरी हेतु पधारे और ढाई रोटा ज्वार का, जो भी शायद एक दिन पुराना था, साथ में मिली खट्टी छाछ लेकर आये और चूर कर उसका मावा बनाया। वह मावा से कम थोड़े ही होगा। आचार्य श्री के शब्दों में वह भोजन पाँच संतों में वितरित किया गया। उसमें जो स्वाद था, वह खोपरापाक, बादाम की कतली या गुलाब जामुन से कम होगा क्या ? जिसने अनुभूति की है, वही यह जान सकता है। व्यक्ति निरन्तर सब कुछ पेट में डालता ही रहे तो हानि ही होती है। मशीन भी ज्यादा भार पड़ने पर गड़बड़ी करने लग जाती है। आज तो पता नहीं पर पहले बहनें घट्टी में थोड़ा–थोड़ा उरती थीं तो घट्टी आराम से चल जाती थी। मशीन निरन्तर प्रयोग में लेते रहें और तेल आदि न डालें तो काम कैसे चलेगा ? हमारे ये पर्व मशीनरी में तेल आदि डालने के लिए ही हैं।

इस संदर्भ में दीपमालिका की बात भी कह दूँ। आध्यात्मिक भाव लक्ष्मी को पाने के लिए प्रभु के चरणों को पकड़ लें। प्रभु के चरणों में तो वह लक्ष्मी लोट ही रही है। साथ ही विवेक को जागृत करें, जिससे सुन्दर समन्वय बने। इस प्रकार निर्मलता आयेगी, और तब सुख–सम्पत्ति स्वयमेव चली आयेगी। पर पहले अज्ञान व मोह का विवर्जन आवश्यक है तभी वहाँ निर्मलता व स्थिरता आयेगी। डांवाडोल स्थिति में विवेक का जागरण नहीं होगा। लक्ष्मी भी परीक्षा लेती है कि यह कच्चा है या पक्का। दृढ़ता को धारण करें। कर्त्तव्य–अकर्तव्य को समझ कर आगे बढ़ें तो ज्ञान का वह आलोक भीतर प्रस्फुटित होगा, जो जीवन को प्रकाश से परिपूर्ण कर लेता है।

दि. 7-11-96

१९. ममत्व से समत्व की ओर

ज्ञान प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक गुण है और प्रत्येक आत्मा में विद्यमान रहता है। ज्ञान के कारण ही आत्मा में चेतना और संवेदना जैसी शक्तियों का आविर्भाव होता है। परन्तु इस ज्ञान का सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित होना आवश्यक है। अज्ञान और मोह ज्ञान के इस प्रकार प्रकाशित होने में बाधा उत्पन्न करते हैं। परिणामस्वरूप निर्मल मन के साथ स्थिरपद हो पाना कठिन हो जाता है। कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं–

'चरण कमल कमला बसे रे, निर्मल स्थिर पद देख'।

निर्मलता के साथ स्थिर पद होना चाहिए, यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तब समझें कि स्थिर पद का स्वरूप क्या है ? और यह कैसे प्राप्त होता है ? अज्ञान व मोह रहेगा तो स्थिर पद प्राप्त नहीं होगा। *आत्मा कषायों के निमित्त से मन, वचन और काया के योगों में* प्रकम्पन से चंचल बनी हुई है। यह है, अस्थिर अवस्था। यथाख्यात चारित्र में जिनेश्वर देवों के चरण पड़ते हैं– वह है, स्थिर अवस्था। यहाँ अध्यवसाय अवस्थित है। चित्तवृत्तियों को दोलायमान अथवा प्रकम्पित करने वाले हैं– कषाय। कषायों के अभाव में चित्तवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। जब स्थिरता प्रकट हो जाती है, तब ज्ञान आदि चतुष्टय, जिसे आध्यात्मिक लक्ष्मी कहा जाता है, तीर्थंकर प्रभु के चरणों में लोटती हैं तथा उनके चरणाश्रय को ग्रहण करती हैं। इसलिए कवि ने कहा है– वह निर्मल व स्थिर चरणों में रहती है। जहाँ समल (स+मल) अवस्था है वहाँ स्थिरता नहीं होगी, तब यह कह दें कि वहाँ लक्ष्मी भी नहीं रहेगी।

हम यद्यपि बात आध्यात्मिक लक्ष्मी की कर रहे हैं परन्तु उसे धन लक्ष्मी के संदर्भ में समझना सरल होगा। इस धन लक्ष्मी का ही पर्व है, दीपावली। जिसका प्रारंभ धन तेरस से अपनी सम्पूर्णता में हो जाता है। धन तेरस शब्द ही धन के महत्त्व, उसके मोह तथा उसकी अपेक्षा की महिमा को प्रकट करता है। क्योंकि तेरस तो प्रत्येक पक्ष में आती है परन्तु धन के साथ उसका संयोग दीपावली से दो दिन पूर्व आने वाली इसी तेरस से ही होता है। धन की आराधना धन तेरस से प्रारंभ होकर दीपावली पर अपनी पूर्णता को पहुंचती है। दीपावली तो लक्ष्मी अथवा धन–सम्पदा की देवी की आराधना का ही त्यौहार है, जब कि उससे पूर्व के धन तेरस और रूप चौदस उस आराधना के उपक्रम के दिन हैं। तनिक विचार करें कि धन तेरस को क्या किया जाता है ? उस दिन बहुत कुछ करते हैं। हो सकता है, बही खातों में कुछ लिखते हों, धन को देखते हो या धन विषयक विचारणा की जाती हो कि आज कोई ग्राहक खाली न जाये, नहीं तो कम से कम पहली बोहनी खाली न जाये। अलग–अलग विचार होते हैं पर सोचने की बात यह है कि धन का स्वरूप हमने क्या समझा है ? धन क्या है ? वह धन कैसा है, आज व्यक्ति जिस के पीछे पड़ा है ? सत्य तो यह है कि धन के दो रूप हैं, दो छोर हैं– (1) ममता, (2) समता।

वह ममता बढ़ायेगा, तो मोह बढ़ता जायेगा; समता बढ़ायेगा तो संतोष बढ़ता जायेगा। ममत्व वृत्ति से मोह का विस्तार होता है। जो व्यक्ति मोह का विस्तार करता है वह समता प्राप्त नहीं कर सकता। सेठ धन्नाजी की कथा इसका प्रमाण है।

धन्नाजी चार भाई थे। धन्नाजी से सभी भाई ईर्ष्या करते थे। धन्नाजी छोटी वय से ही विलक्षण प्रतिभा–संपन्न थे परन्तु अन्य भाइयों के द्वेष–पात्र बने हुए थे। पिताजी ने भिन्न–भिन्न तौर–तरीकों से परीक्षण कर लिया था पर उससे भी भाइयों का मानस नहीं बदला था। वे यही सोचते थे कि पिताजी पक्षपात करते हैं और येन–केन–प्रकारेण धन्ना का ही पक्ष लेते हैं। उनकी वैर भावना

बढती चली गई। इधर धन्ना ने विचार किया– मेरे निमित्त से ऐसा कुछ होता है तो मुझे गृह–त्याग कर देना चाहिए। वे घर छोड़कर चले गये पर जहाँ जाते, धन पीछे–पीछे जाता, उसने धन्ना को नहीं छोड़ा। इधर जैसे ही धन्ना घर से रवाना हुए, घर से धन भी रवाना होने लगा। पिता–माता–भाई सभी दयनीय दशा में पहुँच गये। सोचने लगे– अब नगर में रहना बेकार है। हम यहाँ वैभव में जीवन व्यतीत करते रहे थे, अब निर्धनता की स्थिति में कैसे रहेंगे ? वे नगर छोड़ कर निकल गये।

धन्ना आगे बढ़े, उन्हें भूख लग आई थी अतः एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। खेत में किसान हल चला रहा था। उसने देखा कोई अतिथि है। वह हल रोक कर धन्ना के पास पहुँचा और बोला– तुम अतिथि हो, चलो भोजन आ गया है। हम दोनों बैठ कर भोजन कर लें। धन्ना ने कहा– बात आपकी ठीक है, मैं राहगीर हूँ और मुझे भूख भी लगी है। परन्तु मेरा नियम है कि काम करने के बाद ही आपका अन्न खाऊँगा। किसान ने कहा– कोई बात नहीं, पहले भोजन कर लो, उसके बाद हल चला लेना। धन्ना ने कहा– नहीं, मैं पहले काम करूँगा फिर भोजन। किसान ने कहा– चलो, ठीक है, एक–दो हल खींच लो और जल्दी आओ फिर भोजन कर लेंगें। धन्ना आगे बढ़े, ज्यादा अभ्यास तो नहीं था, एक–दो बार खींचा, बीच में एक स्वर्ण का चरु अटक गया, जिसमें अशर्फियाँ थी। अशर्फियाँ बिखर गईं, पर वे हल चलाते रहे। धन्ना निस्पृह थे, अतः अपना काम करते रहे। इतनी देर में किसान आ गया। उसने बिखरी अशर्फियाँ देख लीं। धन्ना कहने लगे– "चलो अब भोजन कर लें। किसान ने सोचा, कैसा आदमी है ? जब मैंने कहा था– भोजन कर लो तो कहने लगा, पहले काम करूँगा। अब जब ये रोशनी, चमचमाहट बिखेर रही है, तो यह नहीं कि इन्हें समेट ले, कहता है भोजन कर लें। पर अपने विचार दबा कर उसने धन्ना की बात मान ली। दोनों ने भोजन कर लिया। किसान सोचने लगा– अवश्य ही यह भाग्यवान पुरुष है

अन्यथा ऐसा नहीं हो सकता था। जब धन्ना भोजन करके जाने लगे, तब किसान ने कहा– कहाँ जा रहे हो, ये अपना धन लेते जाओ। धन्ना ने कहा– यह मेरा नहीं है, आपका है। आपके खेत में निकला है। किसान ने कहा– नहीं, मेरा नहीं हो सकता। मेरे बाप–दादों के समय से खेती होती आ रही है, पर धन कभी नहीं निकला। यह तो तुम्हारी ही पुण्यवानी है। धन लेने को न धन्ना तैयार थे, न ही किसान। ऐसा समय आ जाय तो क्या करना चाहिये ? कहना चाहिये– चलो आधा–आधा बाँट लें। लेकिन नहीं, दोनों निस्पृह थे। राजा के पास गये, राजा ने भी वह धन स्वीकार नहीं किया और वहाँ पर धन नगर बसा दिया। निस्पृह धन्ना आगे बढ़ते रहे, धन उनके पीछे–पीछे दौड़ता रहा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब व्यक्ति अपने नियमों में आबद्ध रहता है, तब– 'देवावि तं नमं संति, जस्स धम्मे सया मणो।

जब व्यक्ति धर्म में रम जाता है, तब धन छाया की भाँति पीछे दौड़ता है। लेकिन जब व्यक्ति धन को पकड़ने दौड़ता है तो धन पकड़ से बाहर निकल जाता है। इसलिए कहा है– धन के दो छोर हैं– (1) ममता (2) समता या अममत्व भाव। धन से जितना लगाव बढ़ेगा, तृष्णा उतनी ही बढ़ती जायेगी। उस तृष्णा के गड्ढ़े को भरा भी नहीं जा सकेगा। ऐसा गड्ढ़ा हालांकि दिखने में छोटा सा होता है, पर उसे कोई भर नहीं पाता।

छलनी में छिद्र होते हैं, अतः उसमें जल ठहरता नहीं है। उसी प्रकार हमारा मन भी तृष्णा की किरणों से छिद्रित है, उसमें कितना भी भरो, वह बाहर निकल जाता है। ऐसी स्थिति में वह अपने आप में धर्म को भी कैसे टिका पायेगा ?

चाहे सेठ सुदर्शन हों अथवा महाराजा हरिश्चन्द्र, उन्होंने सदा धन को नहीं, धर्म को प्रमुखता दी– 'धन जाये तो जाये, मेरा धर्म कभी नहीं जाये।' धन जाता हो तो भले चला जाय पर धर्म पर

आँच नहीं आनी चाहिए। लेकिन आज यह चिन्तन पूरी तरह बदल गया है। धन व धर्म ने अपने स्थानों की अदला–बदली कर ली है। अब लोग सोचते हैं– 'धर्म जाये तो जाये, मेरा धन कभी नहीं जाये,' धन गया तो मेरे प्राण ही निकल जायेंगे। सोचते हैं– धर्म जा कर भी कहाँ जायेगा, जिन्दगी बहुत लम्बी है, फिर धर्म कर लेंगे। पर धन का संग्रह कैसे करेंगे ? किन्तु समझ लें कि धर्म पकड़ने की चीज नहीं है। वह तो निर्मल स्थिर पद देख कर ही कहीं टिकता है। उस स्थिति में निर्मलता हो और परिणामों में स्थिरता, तो फिर धन चरण पकड़ कर बैठ जायेगा, पीछा नहीं छोड़ेगा।

धन तेरस मनाने के अनेक कारण बताये जाते हैं। सेठ कयवन्ना की कथा भी है कि जैसे उनका सौभाग्य अखण्ड रहा, वैसे हमारा धन भी अखंड रहे। आज व्यक्ति लालसाओं से अपना सम्बन्ध उन व्यक्तियों से जोड़ लेता है। सोचता है कि उन जैसी लक्ष्मी मिल जाये। इस लक्ष्मी के स्वरूप पर भी विचार करें। धन के नहीं ममता के रूप में भी यह व्यक्ति पर प्रभाव डालती है। इसे ही माया कहते हैं। माया ही ममत्व भाव पैदा करती है। ममत्व के कारण व्यक्ति सोचता है– अभी लड़कों को पढ़ाना है, इनकी चिन्ता करूँ। पढ़ कर तैयार हुए तो उनकी शादी की चिन्ता करता है। शादी हो गई तो फिर मन में आयेगा– अब पोते का मुँह देख लूँ। पोते की किलकारी सुन लूँ। कुछ दिन उसे भी खेला लूँ। फिर जब पोता 7–8 वर्ष का हो जायेगा, तब सोचेगा– अब क्या है 7–8 वर्ष और बीत जायें इसका विवाह भी देख लूँ। इस माया का कहीं अंत नहीं आता। ये सारी भावनाएँ ममता के साथ शृंखला–बद्ध होती जाती हैं। ममता से ही परिग्रह की संख्या बढ़ती जाती है। तृष्णा मुँह बाये खड़ी रहती है फिर निरन्तर तनाव बढ़ता है– साधनों का कैसे जुगाड़ करूँ ? हजार हैं तो लाख की, और लाख हैं तो करोड़ की चाहत पैदा हो जाती है। इस प्रकार की हाय–हाय में ही जिन्दगी बीत जाती है। कभी कोई कह भी दे कि मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही क्यों खो रहे हो,

जीवन सार्थक क्यों नहीं कर लेते तो जवाब मिलेगा– "अरे मुझे तो भगवान् पार लगायेंगें।"

इस संदर्भ में लवजी का आख्यान भी ध्यान देने योग्य है। लवजी भाई व्यापार–धन्धे में इतने उलझे रहते कि कभी कोई मित्र कहता कि लवजी ! थोड़ा तो धर्म–ध्यान किया करो। कभी सामायिक, माला, नित्य–नियम कर लिया करो। तो प्रत्युत्तर मिलता– अरे भाई ! तुम क्या कहते हो, मुझे तो रामजी पार लगायेंगे। लोगों ने भी सोचा– गजब की बात है, पर कैसे समझायें। अमीचन्द भाई ने विचार किया कि लवजी को बोध देना चाहिये। एक दिन वे उनके घर के सामने से निकले और कहने लगे– सागरजी में सौ, बखजी में दो सौ, तेजमल में तीन सौ इसी प्रकार चार सौ, पाँच सौ, छःसौ, सात सौ और हजारीमल में हजार कहते हुए चले जाते। एक दिन निकला, दो दिन निकले, तीन दिन हो गये। लवजी ने कहा– "ये क्या कहते हो ? सागर जी में 100 आदि क्यों बोल रहे हो। अमीचन्द ने कहा– इससे क्या मतलब ? लवजी ने कहा– मतलब क्या ? क्या तुम इनसे पैसे मांग रहे थे। अमीचन्द ने कहा– माँग तो नहीं रहा हूँ पर जब बार–बार बोलूंगा तो वे कभी तो चुकायेंगे। लवजी ने कहा– तुम्हारा माथा तो नहीं सठिया गया है ? जब लेन–देन हुआ ही नहीं तो कोई क्यों चुकायेगा। अमीचन्द ने कहा– क्या कहते हो ? उत्तर मिला– ऐसे बिना कारण कोई नहीं चुकायेगा। यदि ऐसे चुकाने लगे तो चलता आदमी भी कहने लग जायेगा, फिर किसे–किसे चुकाया जावेगा ?

तब अमीचंद ने कहा– लवजी भाई ! तुम तो बार–बार कहते हो, मुझे तो भगवान् पार उतारेंगे तो क्या कहने मात्र से उतार देंगे ? कभी भगवान् का नाम भी नहीं लेते हो। कोई धर्म–कार्य भी नहीं करते हो। कोई कहता है तो कह देते हो– भगवान् पार उतारेंगे। लवजी को लगा, बात ठीक है। नाम लेने से क्या होगा, भगवान् कैसे पार उतारेंगे ?

यह समझ लेने की बात है कि जब तक अज्ञान और मोह दूर नहीं होगा, भगवान् कैसे पार करेंगे, कैसे हाथ पकड़ेंगे ? ऐसे ही हाथ पकड़ते तो भगवान् ने गौतमस्वामी का क्यों नहीं पकड़ा, कि यह तो हर समय मेरे साथ रहता है तो अब इसे छोड़ कर कैसे जाऊँ ? हाथ तो पकड़ा नहीं, बल्कि यह और कहा–जाओ ! देवशर्मा ब्राह्मण को बोध देकर आओ। भगवान् का नाम लेने से नहीं, बल्कि उनके मार्ग का अनुसरण करने से ही सफलता मिलेगी। अनुकरण नहीं किया तो ज्ञान का सर्व प्रकाश भी नहीं होगा और अज्ञान और मोह का विवर्जन भी नहीं हो पायेगा। यह मोह बाधक है। अतः धन के एक छोर को पकड़ कर नहीं बैठें बल्कि ऊपर के अगले छोर तक पहुँचे। कोई ऊपर चढ़ना चाहता है, और यदि वह उस निसरणी के पहले पाये को ही पकड़ कर बैठ जाये तो वह ऊपर नहीं पहुँच पायेगा। यदि छत को पाना है तो उसे पहले पगतिये को छोड़ना होगा। ममता पहली सीढ़ी है। धन ही वह पहली सीढ़ी है, जो व्यक्ति को लुभाने वाली है। जब साधना के क्षेत्र में साधक गति करता है तो अनेक सिद्धियां, लब्धियाँ, अणिमा, महिमा आदि प्रकट होती हैं; यदि व्यक्ति उन्हीं में उलझ कर रह जाये तो आगे के सोपान पर आरूढ़ नहीं हो सकेगा। न वह ज्ञान को सर्व रूप में प्रकाशित कर पायेगा, न ही लक्ष्मी इसके चरणों में लोटेगी। लक्ष्मी भी पहले देखती है कि चरण कितने मजबूत हैं। पहले वह परिचय बढ़ाती है और जब देखती है कि साधक फँस गया तो वह झांसा दे कर निकल जाती है। साधक बैठा देखता रह जाता है। सोचता है– अरे, जिसे मैंने पकड़ा था, वह तो चली गई ! यह है, प्रथम सोपान। पर यदि इस स्थिति से स्वयं को बचा ले और आगे बढ़े तो ऊपर समता का सोपान प्राप्त किया जा सकता है और वह होगा, धर्म का अन्तिम सोपान–'समियाए धम्मे'– समता में धर्म है। उसमें जो रम जाये फिर 'देवा वि तं नमंसंति' देवता भी उसके चरणों में आते हैं फिर लक्ष्मी क्या अछूती रहेगी ? हम जानते हैं कि सेठ धन्ना ने तो उसे त्याग भी दिया था तो भी वह धन–लक्ष्मी उनके पीछे–पीछे लगी रही। जो भाई धन को पकड़ने के लिए

उनके हाथ धन तो नहीं, कंगाली गरीबी का पट्टा अवश्य आता है और उससे दु:ख–दुर्भाग्य ही बढ़ता है।

यदि श्रावक के पास कौड़ी नहीं तो वह कौड़ी का और यदि साधु कौड़ी रखता है या स्वयं न रख कर मुनीम के रूप में श्रावकों के माध्यम से रखवाता है तो वह साधु कौड़ी का है। उसकी इज्जत नहीं होती। ऐसा व्यक्ति साधु बन भी गया तो क्या हुआ, उसने साधु के स्वरूप को तो जाना ही नहीं। जो पहले ही छोर ... सीढ़ी पर अटक गया, वह जीवन में समता को कभी प्राप्त न ... ।

धन–तेरस के महत्त्व से संबंधित एक पौराणि
समुद्र–मंथन के दौरान समुद्र में से जो रत्न सबसे
उसका नाम था– 'धन्वन्तरि'। धन तेरस के दिन
हुआ था।

धन्वन्तरि वैद्य थे और वैद्यों का जीवन
की चिकित्सा कर उन्हें शांति–संतोष देना ही
वैद्य भी दु:ख विनाशक होते हैं। इसीलिये
दिन पूजा की जाती है। धन तेरस पर अथवा धन
धन की, ममता की भावना होगी। यह ममता ही बं
यदि ममता के पाये को छोड़ कर, समता के छोर
यथार्थ में जो धन मिलेगा, वह सुख–सम्पत्ति देने
जो सौभाग्य प्राप्त होगा, उसके इर्द–गिर्द सारी
काटेंगी। भाई धन्नाजी को भले समझ न पाये हों
धन प्राप्त करना चाहते हों पर क्या हाथ आया
ने कहा था– चाहे शरीर जाये, धन जाये, परवाह
नहीं छोड़ सकता। महाराज हरिश्चन्द्र ने धन
नहीं की और कहा– मेरा सत्य धर्म अखंडित
श्रावक के जहाज को देव ने अंगुली पर उठा
बार कह दो, 'धर्म सत्य नहीं है' नहीं तो जहाज

दूंगा, जहाज के टुकड़े–टुकड़े हो जायेंगे। सारी सम्पत्ति, किराणा आदि समुद्र में लीन हो जायेगी। जहाज में सवार व्यक्तियों ने भी परामर्श दिया– अर्हन्नक, संकट की घड़ी में एक बार बोल दो।

सोचते हैं– 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति' एक बार कह दो, फिर गुरुदेव से प्रायश्चित ले लेंगे। गलियाँ निकालना हमें बहुत आता है। क्या करें, समाज में रहते हैं, ऐसा करना पड़ता है; इतनी सी बात से निपटारा कर लेते हैं। पर गहराई में जाइये। एक बार दीवार में छेद कर दिया, आवागमन का मार्ग बन गया, फिर लोगों का पैर बढ़ा तो रोकना कठिन होगा। एक बार संकल्प टूटा तो फिर उसे साधना कठिन होगा। व्यक्ति सोचता है– क्या फर्क पड़ता है, पर गहरा फर्क पड़ता है। एक बार टूटा, वह बार–बार टूटता है। जैसे मोमबत्ती आग के स्पर्श से पिघलती जाती है। यदि संकल्प नहीं बना तो परिस्थिति आते ही फिसल जायेगा। पहले तो मोमबत्ती पूरी थी पर जैसे लौ बढ़ी, वह पिघल गई। विपत्ति में धर्म को छोड दिया तो फिर हो जायेगा– अस्थिर पद और लक्ष्मी अपना वास त्याग देगी। इसीलिये कहा है– समल अस्थिर पद परिहरे रे.... समल अर्थात् मल सहित। संकल्प शिथिल हुआ, मल प्रविष्ठ हो गया, वहाँ अस्थिरता आ जायेगी। फिर वहाँ लक्ष्मी नहीं रहेगी। कहा भी है– "सत् की बांधी लक्ष्मी, फिर मिलेगी आय" नियम से बंधी है तो फिर वह छोड़ कर जाने वाली नहीं है। ऐसी ही एक घटना है।

एक सेठ का नियम था कि बाजार में जो भी वस्तु बिकने आये और यदि शाम तक भी वह नहीं बिके तो वह उसे खरीद लेता था। लोगों ने सोचा– देखें, यह केवल कहता ही है या नियम में दृढ़ भी है। एक बार दो भाईयों ने विचार किया– इसकी परीक्षा करनी चाहिये। वे उखरड़ी का कचरा भरवा कर लाये एवं बाजार में बेचने बैठ गये। सुबह से शाम हो गई पर 'कुण ले जावे कचरो'। मकान बन रहा हो तो गड्ढ़ा भरने के लिए आज भले वह भी ले जावें पर कचरा ले जाना कोई नहीं चाहता। शाम हो गई, सेठ जी बाजार

उनके हाथ धन तो नहीं, कंगाली गरीबी का पट्टा अवश्य आता है और उससे दुःख–दुर्भाग्य ही बढ़ता है।

यदि श्रावक के पास कौड़ी नहीं तो वह कौड़ी का और यदि साधु कौड़ी रखता है या स्वयं न रख कर मुनीम के रूप में श्रावकों के माध्यम से रखवाता है तो वह साधु कौड़ी का है। उसकी इज्जत नहीं होती। ऐसा व्यक्ति साधु बन भी गया तो क्या हुआ, उसने साधु के स्वरूप को तो जाना ही नहीं। जो पहले ही छोर अथवा सीढ़ी पर अटक गया, वह जीवन में समता को कभी प्राप्त नहीं कर पायेगा।

धन–तेरस के महत्त्व से संबंधित एक पौराणिक प्रसंग भी है। समुद्र–मंथन के दौरान समुद्र में से जो रत्न सबसे पहले प्रगट हुआ, उसका नाम था– 'धन्वन्तरि'। धन तेरस के दिन ही यह प्रकटीकरण हुआ था।

धन्वन्तरि वैद्य थे और वैद्यों का जीवन रोगों से पीड़ित लोगों की चिकित्सा कर उन्हें शांति–संतोष देना ही होता है। इस प्रकार वैद्य भी दुःख विनाशक होते हैं। इसीलिये धन्वन्तरि की धनतेरस के दिन पूजा की जाती है। धन तेरस पर अथवा धन–लक्ष्मी की पूजा में धन की, ममता की भावना होगी। यह ममता ही बंधनों की जननी है। यदि ममता के पाये को छोड़ कर, समता के छोर पर पहुँचें तो वहाँ यथार्थ में जो धन मिलेगा, वह सुख–सम्पत्ति देने वाला होगा। तब, जो सौभाग्य प्राप्त होगा, उसके इर्द–गिर्द सारी ऋद्धियाँ चक्कर काटेंगी। भाई धन्नाजी को भले समझ न पाये हों और पूरा का पूरा धन प्राप्त करना चाहते हों पर क्या हाथ आया उनके ? सेठ सुदर्शन ने कहा था– चाहे शरीर जाये, धन जाये, परवाह नहीं, पर मैं धर्म को नहीं छोड़ सकता। महाराज हरिश्चन्द्र ने धन की, कोष की परवाह नहीं की और कहा– मेरा सत्य धर्म अखंडित रहना चाहिए। अर्हन्नक श्रावक के जहाज को देव ने अंगुली पर उठा लिया– अर्हन्नक एक वार कह दो, 'धर्म सत्य नहीं है' नहीं तो जहाज को ऊपर से गिरा

दूंगा, जहाज के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। सारी सम्पत्ति, किराणा आदि समुद्र में लीन हो जायेगी। जहाज में सवार व्यक्तियों ने भी परामर्श दिया- अर्हन्नक, संकट की घड़ी में एक बार बोल दो।

सोचते हैं- 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति' एक बार कह दो, फिर गुरुदेव से प्रायश्चित ले लेंगे। गलियाँ निकालना हमें बहुत आता है। क्या करें, समाज में रहते हैं, ऐसा करना पड़ता है; इतनी सी बात से निपटारा कर लेते हैं। पर गहराई में जाइये। एक बार दीवार में छेद कर दिया, आवागमन का मार्ग बन गया, फिर लोगों का पैर बढ़ा तो रोकना कठिन होगा। एक बार संकल्प टूटा तो फिर उसे साधना कठिन होगा। व्यक्ति सोचता है- क्या फर्क पड़ता है, पर गहरा फर्क पड़ता है। एक बार टूटा, वह बार-बार टूटता है। जैसे मोमबत्ती आग के स्पर्श से पिघलती जाती है। यदि संकल्प नहीं बना तो परिस्थिति आते ही फिसल जायेगा। पहले तो मोमबत्ती पूरी थी पर जैसे लौ बढ़ी, वह पिघल गई। विपत्ति में धर्म को छोड दिया तो फिर हो जायेगा- अस्थिर पद और लक्ष्मी अपना वास त्याग देगी। इसीलिये कहा है- समल अस्थिर पद परिहरे रे.... समल अर्थात् मल सहित। संकल्प शिथिल हुआ, मल प्रविष्ठ हो गया, वहाँ अस्थिरता आ जायेगी। फिर वहाँ लक्ष्मी नहीं रहेगी। कहा भी है- "सत् की बांधी लक्ष्मी, फिर मिलेगी आय" नियम से बंधी है तो फिर वह छोड़ कर जाने वाली नहीं है। ऐसी ही एक घटना है।

एक सेठ का नियम था कि बाजार में जो भी वस्तु बिकने आये और यदि शाम तक भी वह नहीं बिके तो वह उसे खरीद लेता था। लोगों ने सोचा- देखें, यह केवल कहता ही है या नियम में दृढ़ भी है। एक बार दो भाईयों ने विचार किया- इसकी परीक्षा करनी चाहिये। वे उखरड़ी का कचरा भरवा कर लाये एवं बाजार में बेचने बैठ गये। सुबह से शाम हो गई पर 'कुण ले जावे कचरो'। मकान बन रहा हो तो गड्ढ़ा भरने के लिए आज भले वह भी ले जावें पर कचरा ले जाना कोई नहीं चाहता। शाम हो गई, सेठ जी बाजार

से निकले, कहा– "जाओ भाई ! यह सारा माल मेरे गोदाम में भर दो।" मुनीम ने रोका– "सेठजी, यह क्या कर रहे हैं ?" सेठ ने कहा– "यह मेरा नियम है।" माल ले लिया, पैसे दे दिये। रात्रि के पिछले प्रहर में सेठ ने स्वप्न में देखा– एक कन्या सम्बोधन कर रही थी– "सेठ ! मैं जा रही हूँ।" सेठ की आँखें खुली या नहीं, पता नहीं पर पूछा–तुम कौन हो ? उत्तर मिला– मैं लक्ष्मी हूँ। मैं समल अस्थिर पद का परिहार करती हूँ, जहाँ गन्दगी है, वहाँ मैं निवास नहीं कर सकती। तुमने अपने गोदाम में गंदगी भर ली है, अतः मैं नहीं रह सकती, मैं जा रही हूँ।" सेठ ने कहा– कोई बात नहीं, पर इतने समय से रह रही हो तो सात दिन और रुक जाओ, ताकि मैं सोच लूं। लक्ष्मी ने कहा– ठीक है। वैसे तो मैं चंचला हूँ , लेकिन तुम्हारी सात पीढ़ी से मेरा यही निवास रहा है, चूंकि यहाँ निर्मलता और स्थिरता रही है, लेकिन अब रुक नहीं सकती। तुम्हें सात दिन का समय देती हूँ। सेठ सुवह उठा, परिवार वालों से भी विचार किया। सभी ने कहा– कचरा फिकवा दो। सेठ ने कहा– मेरा नियम है और मैं उसे दृढ़ता से पालूंगा। सेठ ने विचार किया– जब वह जाने ही वाली है तो क्यों न उसे ठाठ–वाट से विदाई दी जाय। जहाँ–जहाँ दान की आवश्यकता थी, जैसे अस्पताल धर्मशाला आदि, उन सभी में सेठ ने सारी सम्पत्ति वितरित कर दी। ट्रस्ट आदि वना कर, जहाँ जितना करना था, कर दिया ताकि वे कार्यरत हो जायें और जनता लाभन्वित हों। इस प्रकार सारी सम्पति उसने सत्कार्य में लगा दी। सातवें दिन जव वह सो रहा था, उसके मन में परम शांति थी। वह आनंद में था, अव कोई हाय–हाय नहीं थी। संतोष की सांस ले रहा था क्योंकि उसने ममता की प्रथम श्रेणी से हट कर दूसरे सिरे को प्राप्त कर लिया था। हम जानते हैं कि जो उस सिरे पर पहुँच जाता है, वह व्यक्ति भरा हुआ हो जाता है। पहले सिरे पर वह भुक्कड़ होता है पर दूसरे सिरे पर भूख नहीं होती। समता का दरिया वह रहा होता है, चपलता नहीं रहती। रात्रि में लक्ष्मी आई और कहने लगी– 'सेठ तुमने क्या सोचा ?' सेठ ने कहा– आप आराम से जाइये। लक्ष्मी ने

कहा– मैं नहीं जाने वाली हूँ। सेठ ने कहा– नहीं, मुझे अब आवश्यकता नहीं है, खुशी–खुशी पधारो। लक्ष्मी ने कहा– सेठ आप में [illegible] कला है। सात दिनों में दान आदि क्रियाओं से आपने इतनी निर्मलता बढ़ा ली, समता व संतोष–भाव को इतना बढ़ा लिया कि परिग्रह [illegible] गये। विचारों में दोलायमान की स्थिति भी नहीं रही। अपने नियमों पर आप दृढ़ हो, अडिग हो तो मैं छोड़ कर नहीं जा सकती, क्योंकि मैं खूंटे से, डोर से बंधी हूँ। मुझमें वह क्षमता नहीं कि वह खूंटा उखाड़ सकूँ। जहाँ नियमों में शिथिलता आती है, वहाँ से मैं भाग जाती हूँ। क्योंकि वहाँ का खूंटा ढीला हो जाता है। पर तुम्हारा खूंटा इतना गहरा और मज़बूत है कि मैं उसे हिला भी नहीं सकती।

चेड़ा और कौणिक के बीच युद्ध चल रहा था। चेड़ा महाराज विजयी होने लगे। कौणिक हारने के भय से चिन्तित हो रहा था, उसने अपने मित्र इन्द्र का आह्वान किया– मुझे सहयोग दो। इन्द्र ने कहा– "चेड़ा महाराज गृहस्थ जीवन में रहते हैं पर वे दूसरे छोर पर पहुँच गये हैं, अपने आप में निर्मल हैं। इस स्थिति में मैं तुम्हारे साथ खड़ा भी हुआ तो विजय नहीं दिला सकता। पर एक बात अवश्य है; उनके यहाँ जो खंभा गड़ा हुआ है, वह मजबूत है। जब तक वह रहेगा, तब तक भले तुम्हारी सेना में देव मिल जायें, तुम विजयी नहीं हो सकोगे। उसे गिराने पर ही विजय मिल सकती है। एक सैनिक ने यह कार्य अपने हाथों में लिया। नैमेत्तिक का रूप धारण करके गया। चेड़ा महाराज से कहने लगा– अभी तक युद्ध में सफलता नहीं मिल रही है, इसका कारण है– वह खंभा। इसे गिराने पर ही तुम सफल हो सकते हो। चेड़ा ने कहा, "कोई बात नहीं, यह प्रयोग भी कर लें।" सैनिक जुट गये। कौणिक को ज्ञात हुआ तो उसने आदेश दिया। सारी कौणिक सेना पीछे हटने लगी। ज्यों ही खंभा गिरा, कौणिक ने पुनः आक्रमण किया और युद्ध में विजय प्राप्त कर ली। यह घटना प्रमाणित करती है कि यदि संकल्प अखंडित है तो कोई शक्ति हावी नहीं हो सकती। जहाँ स्थिरता है, वहाँ लक्ष्मी बंधी रहेगी,

पर खूंटा ही ढीला हो जायेगा, श्रद्धान व संकल्प ढीला होगा तो न वहाँ लक्ष्मी रहेगी, न धर्म रहेगा। संकल्प के शिथिल होने पर जीवन व्यवस्थित नहीं रह सकता। संकल्प की दृढ़ता से अद्भुत चमत्कार घटित हो सकते हैं।

तब यह समझ लें कि यदि हम धर्म को पाना चाहते हैं तो ममता के छोर से हट कर आगे बढ़ें। समता रूप भाव लक्ष्मी को प्राप्त करने का प्रयास करें। यदि वह प्राप्त हो गई तो द्रव्य लक्ष्मी हमें कभी छोड़ कर नहीं जा सकेगी। ऐसा धन मिल जाये तो फिर दुःख–दुर्भाग्य टल जायेंगे। इस प्रकार अगर 'धींग धणी माथे कियो रे' तो फिर किसी की हिम्मत नहीं होगी कि हमारी ओर आँख उठा सके। सही रूप में धन तेरस को मनाने का यही तरीका है। इस प्रकार यदि समत्व भाव से आगे बढ़ें तो एक दिन अवश्य समत्व से वीतरागता तक पहुँचने में सफल होंगे।

दि. 8–11–96

२०. जीवन में स्वस्थ व्यवहार

देवाधिदेव चरम तीर्थेश प्रभु महावीर की दिव्य देशना हमारे मंगल का मार्ग प्रशस्त करने वाली है। यदि उसका अनुसरण किया जाय तो वह अंधकार–परिपूर्ण में प्रकाश की एक–तमिस्रा किरण बन कर व्यक्ति को सन्मार्ग पर आरूढ़ करा सकती है। अज्ञान और मिथ्यात्व की तमिस्रा में यदि कोई प्रकाश है, किसी के निर्देश से यदि कोई मार्ग प्राप्त हो सकता है तो वह जिनेश्वर देवों की वाणी ही है। इस वाणी में ज्ञान के अनमोल तत्त्व छिपे हैं। तत्त्व इस प्रकार कि हमारा जीवन कई तत्त्वों से निर्मित है और वह उन सारे तत्त्वों की सम्यक् अवस्थाओं के साथ ही गतिशील बना रहता है। जीवन का व्यवहार स्वस्थ कैसे हो, हम किस प्रकार से जीयें यह समझना आज की पहली आवश्यकता है।

जीना तो सदा से हो रहा है। लोग साँसें लेते हैं और क्रियाएँ करते हैं। परन्तु क्या यही जीना है ? जीवन क्या इसीलिये होता है ? जीवन का अथवा जीने का कोई ऊँचा उद्देश्य होना चाहिये। ऐसे जीवन का स्वरूप कैसा हो, यह समझ लेना सबसे आवश्यक है। क्योंकि जब तक यह समझ कर सम्यक् रीति से जीवन को आगे नहीं बढ़ाया जायेगा, जीवन तथा जीवन की सभी क्रियाएँ घाणी के बैल के जीवन एवं क्रियाओं के समान ही निरर्थक होंगी। कहने को तो घाणी का बैल खूब घूमता है, लगातार चलता है, उसमें गति होती है परन्तु इतनी गति तथा इतना चलने के बाद भी वह जहाँ का तहाँ ही बना रहता है। उसके इस प्रकार गतिशील रहने की कोई उपलब्धि नहीं होती। जीवन की ऐसी ही निरर्थकता को लक्ष्य कर प्रभु ने कहा था– जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।

भाई जो रात्रियाँ व्यतीत हो रही हैं, तू कितना भी पुरुषार्थ कर, वे वापस नहीं आयेंगी। कोई अरबपति, खरबपति सोचे, करोड़ रूपये दे दूँ, बीती रात आ जाए तो रात तो क्या बीता हुआ एक क्षण भी वापस लाने की क्षमता किसी में नहीं है। यही कारण है कि प्रभु महावीर साधकों से कहते हैं –"समयं गोयम ! मा पमायए।" समय मात्र का प्रमाद मत करो। हम समय का मूल्य नहीं करते। समय कितना बारीक है, सूक्ष्म है, न जाने हमारा कितना समय बर्बाद हो जाता है, हम यह नहीं सोचते। इसीलिए प्रभु ने कहा है– "अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ।"

अधर्म में व्यतीत रात्रियाँ निष्फल होती हैं। यदि हमने जीवन को नहीं सजाया, कुछ प्राप्त नहीं किया तो हमें विचार करना चाहिये कि हमारा कितना समय धर्म में, कितना अधर्म में व्यतीत हुआ है। धर्म–अधर्म की चर्चा में कभी उलझन भी सामने आती है। हम सोचें कि आज हम धर्म को या धर्म के स्वरूप को किस रूप में समझ पाये हैं ? धर्म क्या है ? धर्म की बात पर उलझन में मत पड़िये। धर्म सुलझा हुआ तत्त्व है। धर्म में उलझन नहीं है पर जब हमारी मानसिकता या विचार उलझे हुए होते हैं तो हम धर्म की समझ को भी उलझा देते हैं। इतना उलझा देते हैं कि धर्म का सही स्वरूप ही खो जाता है। जैसे उलझे हुए सूत को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है वैसे ही धर्म को सुलझाने अथवा सुलझाकर सीधे सरल शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया जाता है। पर धर्म में उलझन है कहाँ ? वह सुलझा हुआ है। फिर भी हम धर्म को प्राप्त क्यों नहीं कर पा रहे हैं ? इस पर विचार करने की आवश्यकता है। एक क्षण के लिए भी कभी धर्म हमारे जीवन में आता है या नहीं, इसका हमने अनुभव किया है या नहीं ? अनुभव किया होता तो फिर अधर्म में जाने का मन नहीं होता। पर आज मन की दौड़ विपरीत दिशा में, भौतिकता की दिशा में हो रही है। धर्म यह भी नहीं है कि धर्मस्थान में आये संतों के दर्शन किये, प्रवचन सुना तो धर्म हो गया परन्तु यदि वहाँ पहुँच कर भी विचार शुद्ध नहीं हुए तो वह चाहे चर्च हो, मस्जिद हो, मंदिर हो कहीं

ने कहा है कि शांति का स्वरूप प्राप्त करना है तो 'आगम धर गुरु समकिती–किया संवर सार रे। सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभवधार रे।' शांति के लिए कहाँ भटक रहा है, कहाँ खोज कर रहा है ? वह ऐसे स्थान पर नहीं है। उसके लिए साधन बताये गये हैं और कहा गया है– 'आगम धर गुरु समकिती' गुरु की आवश्यकता है। मेवाड़ में कहते हैं, जिसके गुरु नहीं वह नगुरा है। आप उतनी गहराई में नहीं जाते पर समझिये गुरु नहीं, गुरु का सानिध्य नहीं तो दीपक है, तेल है, बाती है पर लौ का स्पर्श नहीं होगा और जीवन में प्रकाश प्राप्त नहीं होगा। पर गुरु कैसा हो ? इसका चिन्तन भी आवश्यक है। गुरु होना चाहिये आगम धर। आज हम अर्थ लेते हैं– आगम को धारण करने वाला होना चाहिए। बड़े रूप में कह दें– जिसने सभी आगमों का अध्ययन कर लिया हो ऐसा। पर यहाँ कवि का दूसरा ही भाव है, इतना ओछा भाव नहीं रखते। आज तो कम्प्यूटर में और जगह–जगह लायब्रेरियों में हजारों पुस्तकें एकत्र कर ली जाती हैं। एक कम्प्यूटर में यदि लायब्रेरी के सारे आगम भर दिये जायें तो क्या वह 'आगम धर' हो जायेगा ? टेप की भाँति कंठस्थ कर लिया तो, इतने से भी कुछ प्राप्त होना नहीं है। यदि ऐसी व्याख्या करेंगे तो अभवी भी आगमधर हो जावेगा। क्योंकि वह भी आठ पूर्व से ऊपर का ज्ञान कर लेता है। आगम धर की व्याख्या है– आ समन्तात् गम्यते इति आगमः। जिसने ज्ञान को चारों ओर से आत्मा के निकट कर लिया, चारों ओर से ज्ञान का प्रकटीकरण कर लिया, उसे जो धारण करने वाला है, वह है– आगम धर। साथ में कहा गया है– 'समकिती' अर्थात् सम्यक्त्व वाला होना चाहिए, उसका दीप जला हुआ होना चाहिए। स्वयं का दीप जला नहीं है, अज्ञान की तमिस्रा है तो वह अवस्था भी दूसरे को प्रकाश देने वाली नहीं होगी। 'किरिया संवर सार रे....।' स्तुति का एक–एक पद महत्वपूर्ण है। बोल–चाल में कहते हैं "पानी पीजे छान के, गुरु कीजे जान के।" क्या जानते हो गुरु के बारे में ? गुरु–गुरु कहते रहे, गुरु ने कान में मंत्र फूंक दिया– कानिया मानिया कुर, तू चेला मैं गुर" क्या यही गुरु की पहचान है ?

क्या इतने से ही कोई गुरु और कोई चेला बन जाता है ? कवि ने आगे की पंक्ति में कहा है–सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे इसकी व्याख्या के साथ गुरु के स्वरूप को जानें और देखें कि हमारे आदर्श गुरु कौन होने चाहिए। हम जब साधना में आगे बढ़ते हैं, तब हमारे सामने एक आदर्श, एक दर्पण होना चाहिए। आप जब काँच में दखते हैं, तब उसमें जो कुछ देखें, वह दृश्य प्रकट होता है। इस प्रकार दर्पण तो ऊपरी छवि को दिखाता है, पर जब भावात्मक दृष्टि से विचार करें तो भावों को देखने के लिए भाव रूप दर्पण की आवश्यकता होगी। भावों में शुद्धता है, अथवा अशुद्धता है, इसका सम्यक् परीक्षण करने के लिये भाव दर्पण होता है। उसके माध्यम से ही शुद्धता–अशुद्धता की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सामायिक लेने से पूर्व लोगस्स का पाठ बोलते हैं, यह परम्परा है। पर क्यों है ? इस पर भी विचार करना चाहिये।

सामायिक क्या है ? सामायिक है– समभाव की आराधना, धर्म में प्रवेश, जीवन में प्रवेश। वह मंगलकारी हो, इसलिये उसके पहले आदर्श को जीवन के सामने रखते हैं। 24 तीर्थंकर हमारे आदर्श हैं। उन्हें सामने रखकर हम प्रवेश करते हैं। कहीं रुकावट होती है तो उसका निराकरण उनके माध्यम से करते हैं। वे आदर्श के रूप में हमारे सामने होते हैं तो उस माध्यम से जीवन के शुद्धिकरण का मार्गदर्शन तथा प्रेरणा प्राप्त होती है। इसलिए 24 तीर्थंकर के आदर्श के साथ ही हम गुरु का आदर्श भी स्वीकार करते हैं। तीर्थंकर जब दीक्षा लेते हैं, उस समय वे तीन ज्ञान के धारक होते हैं। पर वे यह नहीं सोचते हैं कि मैं तीन ज्ञान से संपन्न हूँ, बहुत कुछ जान रहा हूँ। नहीं, वे साधना में प्रवेश के लिए आदर्श उपस्थित करते हैं। 'णमो सिद्धाणं' पाठ द्वारा वे साधना में प्रविष्ट होते हैं क्योंकि उन्हें सिद्ध बनना होता है। जब वे अरिहन्त पद पर आते हैं तो जनता को बोध देते हैं, इसलिए उन्हें नमस्कार किया जाता है। जिन्हें हमने देव के रूप में स्वीकार किया, वे अरिहन्त तो देव हैं पर वे गुरु हैं या नहीं, वे सुसाधु हैं या नहीं ? शास्त्रों में जगह–जगह पर उल्लेख प्राप्त होते

हैं कि गणधर गौतम स्वामी भगवान् महावीर स्वामी के लिए "धर्मगुरु धर्माचार्य" शब्द का प्रयोग करते हैं। भगवान् महावीर तीर्थंकर थे पर धर्मगुरु भी थे। कहा गया है– सिद्धाणं णमो किच्चा, संजयाण य भावओ। सिद्धों को नमस्कार करके संयतियों को भाव पूर्वक नमन करता हूँ। संयति कौन हैं– अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, साधु। संयति का तात्पर्य है– जिन्होंने जीवन संयमित कर लिया है। वे संयति पद पर आ गये। अरिहन्त उस सीढ़ी पर हैं, जो देव और गुरु दोनों का पार्ट अदा करते हैं। वे कैवल्य ज्योति से आलोकित हैं इसलिए, वे देव हैं। दूसरों को आलोकित करने में तत्पर हैं, इस कर्तव्य का निर्वाह करने से वे गुरु हैं। गुरु मानकर ही उन्हें पहले नमस्कार किया है, क्योंकि उन्होंने ही ज्ञान मार्ग का स्वरूप बताया। इसीलिये उनका आदर्श हमारे सामने आता है कि गुरु कैसा होना चाहिए। कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं– किरिया संवर सार रे अर्थात् उनकी क्रिया में संवर होना चाहिए। संवर का अर्थ भी समझ लेना आवश्यक है। संवर अर्थात् जिनकी क्रिया में आस्रव का स्रोत जुड़ा न हो। मोटे तौर पर बहुत से भाई यह जानते हैं। अभवी आत्मा, साधु जीवन की आराधना कई बार कर लेता है, पोशाक ग्रहण कर लेने मात्र से उसकी क्रिया संवर नहीं हो जाती। 'जे आसवा ते परिसवा।'

एक व्यक्ति सिनेमा हॉल में धर्म क्रिया कर सकता है तो एक स्थानक में भी आस्रव कर सकता है। कभी–कभी हम धर्मस्थान में भी आस्रव कर लेते हैं। संवर भी हमारे भावों में हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया संयम से ओत–प्रोत हो, उसके साथ ही गुरु परम्परा जो प्राप्त है उसका भी अवंचक हो। यदि कोई गुरु सम्प्रदाय के नाम से ठगाई करता है तो वह गुरु नहीं हैं। गुरुगम ज्ञान दुनियाँ को ठगने या रिझाने के लिए नहीं है। यदि वह ठग रहा है तो वह गुरु नहीं है।

कवि ने गुरु के संबंध में आगे कहा है– शुचि अनुभव धार रे। अर्थात् जिसकी सारी सोच शुचि अर्थात् अनुभव से गुजरी हो। अनुभव से गुजरे हुए ज्ञान में जो जी रहा है वही गुरु पद का अधिकारी हो सकता है। उसे ही गुरु कह सकते हैं। वही मार्गदाता

हो सकता है और वही हमारे बुझे दीप को जलाने में ज्ञान को उर्वरित करने में सक्षम है। गुरु के अनेक लक्षण एवं क्षमताएँ बताई गई हैं, परन्तु सभी की विवेचना संभव नहीं है। इसके लिये व्यक्ति को अपने विवेक, अनुभव और ज्ञान का सहारा लेना चाहिये। परन्तु एक बात निश्चित कर लें कि यदि धर्म में प्रवेश करना है, दीप जलाना है तो गुरु के माध्यम से ही प्रवेश करें। उस आदर्श को सामने रखें, फिर जो शक्ति हम में प्रकट होगी, वह जीवन के सभी तनावों, हलचलों आदि को दूर करेगी। जीवन शांत–प्रशांत बनेगा और अपने लक्ष्य की ओर गतिवान बनेगा। गुरु की इतनी महिमा होने के कारण ही आचारांग सूत्र (1–5–4) में एकचर्या का निषेध करके गुरु–निश्रित रहने का उपदेश दिया गया है। आचार्य की आराधना किस प्रकार करनी चाहिये, तथा सद्गुरु की सेवा, भक्ति और सत्संग कब और कैसे फलित होती है इसकी विवेचना भी सूत्रकार ने की है। गुरु के दृष्टिकोण और अभिप्राय को समझ कर, जो साधक गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह इष्ट फल प्राप्त कर सकता है। परन्तु ऐसा वही कर सकता है, जिसकी गुरु में पूर्ण आस्था हो। शास्त्रों में यह भी स्पष्ट कथन है कि जितने अंश में गुरुदेव पर श्रद्धा होगी उतने ही अंश में गुरु का संग और गुरु प्रदत्त ज्ञान फलीभूत होगा।

कवि ने 'आगम धर' गुरु की बात कही है परन्तु बात इतनी ही नहीं है। आचारांग सूत्र में गुरु अथवा आचार्य अथवा महर्षि के गुणों की विस्तृत विवेचना की गई है। आचारांग सूत्र के प्रथम उद्देशक के लोकसार नामक पंचम अध्ययन के प्रारंभ में ही आचार्य को जलाशय से तुलना की गई है। जैसे किसी समतल भूभाग पर निर्मल जल से भरा हुआ सरोवर होता है, जो प्राणियों की रक्षा करता है; उसी प्रकार आचार्यादि महर्षि ज्ञान रूपी जल से भरे हुए होते हैं तथा निर्दोष क्षेत्रों में रह कर कषायादि को उपशांत करके, जीवों की रक्षा करते हुए, ज्ञानरूपी प्रवाह को बहाते हैं। जिस प्रकार सरोवर में कमल शोभा देते हैं, उसी तरह आचार्य में पाँच प्रकार का आचार, आठ प्रकार की सम्पदा और छत्तीस गुण शोभा देते हैं। जिस प्रकार

सरोवर स्वयं पवित्र होता है और दूसरों को भी पवित्र करता है, उसी प्रकार आचार्य स्वयं तो दोष रहित होते ही हैं, अपने सम्पर्क से अपवित्र आत्माओं को भी पवित्र बनाते हैं। आचार्य के लिये "सोयमज्झगए" विशेषण का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सरोवर में जल आता और निकलता रहता है, उसी प्रकार आचार्य श्रुत (आगम) ज्ञान का आदान–प्रदान करते रहते हैं।

गुरु और सरोवर के इस रूपक को बहुत लम्बा खींचा जा सकता है परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है। इस तुलना का आशय केवल इतना ही है कि साधक अथवा शिष्य इनका लक्ष्य सामने रख कर अपने जीवन का विकास करे। 'सम्ममेयंति पासह' कह कर यह भी सूचित किया गया है कि अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग कर प्रत्येक कार्य का अवलोकन भी करना चाहिये। श्रद्धा रखनी चाहिये परन्तु वह श्रद्धा अंध न हो। इस श्रद्धा में अपनी विवेक बुद्धि आगम के वचन, और सत्पुरुषों के अनुभवों का समन्वय होना चाहिये। गुरु और शिष्य, आचार्य और साधक का संबंध इस प्रकार एक माध्यम से नहीं, अनेक माध्यमों से जुड़ता है। परन्तु मुख्य बात जीवन में स्वस्थ व्यवहार की है। यह आवश्यक है कि हमारा जीवन जिन तत्त्वों से निर्मित है उन सभी की सम्यक् अवस्थाओं के साथ जीवन में गतिशील बना रहना चाहिये। इस कार्य में समय मात्र का प्रमाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि "जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई" जो रात्रियाँ व्यतीत हो रही हैं, वे किसी भी प्रयास अथवा किसी भी प्रकार के पुरुषार्थ से वापस नहीं लौटाई जा सकेंगी। इस प्रकार यदि जीवन की सीमित अवधि अधर्म अथवा असंयत व्यवहार में व्यतीत हो गई तो पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जायेगा और दुर्लभ जीवन नष्ट हो जायेगा। इसलिये अज्ञान और मिथ्यात्व की तमिस्र में जिनेश्वर देवों की दिव्य वाणी से मार्ग दर्शन प्राप्त कर, अपने इस भव को सार्थक करें।

दि. 4-12-96

२१. आत्म साधना का आदर्श : महासती श्री गुलाबकंवरजी म.सा.

स्थविर पद–विभूषिता सरलमना महासती श्री गुलाबकंवरजी म.सा. का संबंध ग्राम जावरा से था। संसार की असारता का स्वरूप–बोध पाकर, उन्होंने यौवन वय में सजोड़े संयम मार्ग स्वीकार किया था। लम्बे समय तक उन्होंने साधना–पथ पर चलते हुए साधना के हार्द को जीवन में उतार लिया था। श्रद्धा, समर्पणा और निष्ठा को जीवन की मूल भित्ति बना कर सरलता, और स्वावलंबन का आदर्शरूप उन्होंने अपने कर्मों द्वारा प्रकट किया था।

प्रभु महावीर ने साधक जीवन की गरिमा और महिमा बताते हुए कहा है– 'सोही उज्जुयभूयस्स।' सरलता से युक्त श्रमण को श्रमजीवी कहा गया है। वह यदि श्रमजीवी नहीं हो तो उसके जीवन में अनेक अवरोधक भाव पैदा होंगे। परिणाम स्वरूप 'किं कर्तव्य विमूढ़' बना, वह साधना मार्ग में भी दुःख ही अनुभव करेगा। स्वावलंबन को इसीलिये चार–सुख शय्या में से एक सुख शय्या कहा गया है। व्यक्ति चाहता है कि वह सुख से रहे, परन्तु सुख से रहने के लिए स्वावलंबन आवश्यक है। पर का अवलंबन, पर की अपेक्षा सुख शय्या में बाधक बनता है। व्यक्ति चाहता है कि अमुक कार्य कोई दूसरा कर दे, और यदि उसके द्वारा नहीं हुआ तो मन में उच्चाटन होगा। स्वयं के अवलम्बन से चलेगा तो वहाँ सुख शय्या का प्रसंग उपस्थित होगा। जो महासतीवर्ग महासती श्री गुलाबकंवर जी की सेवा में रही थी या समय–समय पर जिन्होंने सेवा का लाभ लिया था, उन्होंने इस गुण की महिमा का निकटता से अनुभव किया है। वि सुशीलाजी म.सा. आज ही कह रही थीं कि उनके

स्वावलंबन का आदर्श स्मरणीय है। वृद्धावस्था में होते हुए भी वे कहते थे, जव तक हाथ–पैर चल रहे हैं, तब–तक स्वयं का काम क्यों छोड़ूँ ? भले ही दूसरा काम निपटा देने को तत्पर हो तथापि यह अनुचित होगा कि मैं बैठा हुकूमत चलाता रहूँ। क्योंकि जब तक स्वयं में शक्ति मौजूद है, अपना काम स्वयं करना चाहिये। पुराने साधु–साध्वी कहते हैं– शरीर तो जाने वाला ही है, कहाँ तक रोकेंगे ? संयमी जीवन में जितना उपयोग हो, कर लें। वे स्वयं का काम करके भी, दूसरों के दो काम में हाथ बटाते हैं। शरीर तो जाने वाला ही है, जब तक आयु का तेल है, तब तक ही यह दीपक जल रहा है। तेल समाप्त हुआ कि दीप बुझ जायेगा। अतः समझदार वही है, जो शरीर रहते सार निकाल ले। श्रद्धेय स्थविर पद–विभूषित इन्द्र भगवान् साधकों को शिक्षा देते हुए कहते थे– अपने हिस्से का काम करना नीति है, उससे अधिक करना धर्म है। जो अपने हिस्से का भी न करे, उसे क्या कहा जा सकता है, यह स्वयं समझा जा सकता है।

महासतीजी का नाम गुलाब था। नाम के साथ में भाव का प्रसंग भी जुड़ जाये तो सोने में सुहागा हो जाता है। गुलाब अर्थात् ऐसा खिला हुआ फूल, जिससे खुशबू प्रसृत हो रही हो। एक गुलाब घर में खिला, चार दीवारी में रहा, फिर विचार किया कि गुलाब की सौरभ तो जगह–जगह फैलनी चाहिए, उसने संयमी जीवन का सौरभ भरा, फिर उसे विकीर्ण करना प्रारंभ कर दिया। इस रूप का प्रसार हुआ। आज वे शरीर पिण्ड से हमारे वीच नहीं हैं पर उनके गुणों का स्मरण वना रहेगा, होता रहेगा।

प्रभु महावीर ने कहा है– "घोरा महुत्ता अवलं शरीरं, भारंड पक्खीव चरेऽपमत्ते।"

उन्होंने साधक को अमर संवोधन दिया– काल घोर है, शरीर निर्वल है, न जाने किस समय काल का पंजा शरीर पर पड़ जाय, शरीर में वल नहीं है। भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त विचरण कर जीवन का सार, निचोड, निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए।

इस संदर्भ में सहसा विचार उत्पन्न होता है– साधना और आराधना नें क्या अंतर है ? साधना तो अनेक करते हैं पर जरूरी नहीं कि सभी की साधना आराधना हो जाय। आचारांग सूत्र नें कहा गया है–'अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरुवरुवेहिं सत्थेहिं पुढवी कम्न समारंभेणं ..। हम अणगार हैं, इस प्रकार कहते हुए अनेक प्रकार के शस्त्रों के माध्यम पृथ्वीकाय का उपलक्षण से अपकाय, तेऊकाय आदि का उपमर्दन करते हैं। उपमर्दन करने वाला अणगार नहीं होता। फिर भी वह स्वयं को अणगार मान कर चल रहा है। वह साधक हो सकता है, पर आराधक होना संभव नहीं है। आराधक का सर्टिफिकेट मिलता है लास्ट में। जीवन में कितनी भी साधना कर लें पर गुत्थियों को नहीं खोला, ग्रंथी–विमोचन नहीं किया तो– 'तस्स ठाणस्स अणालोइए अपडिक्कंतं।'

आलोचना, ग्रंथिविमोचन, प्रतिक्रमण कर लें तो आराधना का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। भगवान् पार्श्वनाथ के शासन के अनेक साधु–साध्वी फिसल गये थे, संभल नहीं पाये थे पर स्खलन किसी के भी शासन के अंतर्गत हो सकता है। चाहे वे साधु किसी भी तीर्थंकर के शासन के हों। जरुरी नहीं है कि जितने पौधे लगायें जायें वे सारे के सारे विकसित हो ही जायें। कई तो लगते ही कुम्हला जाते हैं, कई थोड़े बढ़े कि नोंच दिये जाते हैं और कई जो कुछ बढ़ पाते हैं तो मंजरी आने के साथ निर्मम हवा के झोंके से गिरा दिये जाते हैं। बहुत कम पौधे ही पूर्ण रूप से विकसित होकर मंजरी, फूल–फूल से लद कर रस से आप्लावित होते हैं। इसी प्रकार कोई संयमी जीवन में मूल गुण की विराधना करते हैं तो कोई उत्तर गुण की विराधना कर देते हैं। विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। अभी तो इतना ही समझ लें कि साधक बनने मात्र से आराधना नहीं होती। जब तक आराधना नहीं होती, तब तक मुक्ति की डिग्री नहीं मिल सकती। परन्तु डिग्री कौन देगा ? डिग्री आपके हाथ नें है, पात्रता और समता आप में हैं, वे गुण भी आप नें हैं, इस प्रकार प्राप्त होते हुए भी आप उससे अवगत नहीं हैं। जैसे ताले को बंद कर दिया हो, और चाबी

का पता नहीं। परन्तु जब तक वे गुण उद्घाटित नहीं होंगे, आगे की कॉलेज में दाखिल नहीं हो सकते। इस संबंध में एक दृष्टांत लें।

एक शराबी नशे में धुत घर पहुँचा। वह कुछ वहमी भी ज्यादा था। उसे सदा भय रहता था कि उसकी धर्मपत्नी कहीं बाहर न चली जाये। व्यक्ति स्वयं के जैसा ही दूसरों का आकलन करता है। वह स्वयं की दुर्बलता के कारण पत्नी के विषय में शंका करने लगा। बाहर जाता तो द्वार पर ताला लगा देता। उस दिन नशे में धुत घर पहुँचा था। द्वार पर लगा ताला खोलने की कोशिश में द्वार टटोलने लगा। खड़खड़ की आवाज हुई। पत्नी ने ऊपर से देखा– पतिदेव आये हैं, शायद ताले को हिला रहे हैं। ऊपर से आवाज लगाई– चाबी नहीं मिली क्या ? न मिली हो तो ऊपर से दूसरी चाबी फैंक दूं। उससे ताला खोलकर आ जाना। इस पर वह कहने लगा– चाबी तो मेरे पास है, पर ताला गुम गया है, तू तो ताला फेंक दे। यह है मदहोश अवस्था। हम विचार करें कि आज मनुष्य क्या ढूंढ रहा है– ताला या चाबी ? दोनों का ही पता नहीं है। ताला चाबी दोनों लापता हैं। वह तो नशे में था पर हम किस नशे में हैं। दोनों का पता नहीं तो खोलेंगे क्या और कैसे ? इसलिये पहले ताले और चाबी का ज्ञान करना होगा। चाबी का ज्ञान न भी हो पर ताले का हो गया तो ताला तोड़कर प्रवेश किया जा सकता है। पर ताले का ही ज्ञान नहीं तो द्वार उन्मुक्त कैसे होगा ? अतः हम उन तालों को ढूंढें जो हमारे भीतर पता नहीं कहाँ–कहाँ लगे हैं। ये ताले हैं– वे अशुद्धियाँ, कुण्ठाएँ एवं दुष्प्रवृत्तियाँ, जो निर्मल भावधारा के मुक्त प्रवाह को रोकते हैं तथा आध्यात्मिक जीवन–निर्वाह में बाधाएं उत्पन्न करते हैं। अतः आवश्यक है कि हमारी विशुद्ध भावधारा में जो अवरोध पैदा हो रहे हैं उन्हें हटाएँ अन्यथा साधना भले ही होती रहे पर आराधना कठिन होगी। संयमी जीवन एवं साधना के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है जिससे व्यक्ति व्यर्थ भी औपचारिकताओं में ही अटका न रह जाय। सामान्यतः व्यक्ति सोचता है कि गृह त्याग कर वह साधु बन सकता

है परन्तु कपड़े मात्र अथवा आवास मात्र बदल लेने से कोई साधु नहीं हो जाता। प्रभु महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा है– 'जहित्तु पुव्व संजोगं ।'

पूर्व के जो संयोग हैं, उन्हें छोड़ना है। हम यह ध्यान रखें कि पूर्व के संयोग ही वे ताले हैं अथवा बंधन हैं, जो हमें इस भव से बाँधे रखते हैं। उन्हीं के कारण विविध भवों में भटकना पड़ता है। असली मुक्ति अथवा त्याग तो उन संयोगों का है। गृह अथवा परिवार का त्याग तो मात्र पाखण्ड है, उससे न आत्मा पवित्र होती है न चिन्तन शुद्ध होता है। असली साधुत्व की प्राप्ति इन्हीं के त्याग से होती है। जब तक उन्हें नहीं छोड़ेंगे तब तक साधु या अणगार बनना कठिन काम है।

आज हम महासती गुलाबकंवरजी म.सा. की स्मृति सभा में सम्मिलित हो रहे हैं क्योंकि यह भारतीय परम्परा का निर्वाह है। परन्तु मृत्यु के पश्चात् इस प्रकार की गुणानुवाद सभा का औपचारिक आयोजन ही पर्याप्त नहीं है। आज हम उनका स्मरण कर रहे हैं यह उचित है लेकिन यदि हम पूर्व संयोगों से लिप्त रहे तो यह स्मरण सार्थक नहीं हो पायेगा। पूर्व संयोग से तात्पर्य गृहस्थ जीवन के क्रोध, मान, ईर्ष्या अदि के भावों से है। यदि ये भावनाएँ बनीं रहीं, यहाँ भी उन्हें पुनर्जीवित करते रहे तो भले ही यह सभा हो या पोशाक– परिवर्तन हो, भाव धारा में परिवर्तन नहीं होगा, जो आवश्यक है। महासतीजी का स्मरण कर रहे हैं तो मात्र यह नहीं कि गुणानुवाद कर लें पर वृत्तियों एवं चिन्तन के परिवर्तन अथवा परिमार्जन की चिन्ता न करें। इस प्रकार के गुणानुवाद अथवा तीर्थंकरों की स्तुति का कोई प्रयोजन होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में इस संबंध में कहा गया है– दर्शन विशुद्ध होता है पर वाचिक स्तुति मात्र से नहीं। वह तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है। आज भी कई लोग भक्तामर,, कल्याणमंदिर आदि मंत्र रूप से उच्चारण करते हैं। अन्य रूप से उपयोग करते हैं। पर

इतने मात्र से दर्शन विशुद्ध नहीं होता। इसके लिये आवश्यक है कि जिन गुणों का कथन हम कर रहे हैं उनसे स्वयं को भी आप्लावित करें। हमारा जीवन उनसे भीगना चाहिए। भीगते चले गये तभी जान पाएंगे। तभी भीतर अनुभूति होगी कि ताला–चाबी कहाँ है। अनुभूति हो गई तो फिर ताला खोल कर भीतर प्रवेश कर पायेंगे। मृत्यु का जहाँ तक संबंध है तो वह तो सुनिश्चित है। सभी का मरण होता है, हुआ है, और होगा। मृत्यु तो परम सत्य है परन्तु इस मृत्यु से बड़ा भी एक और सत्य है। एक और आवश्यकता है जिसके संबंध में प्रभु महावीर ने साधकों से कहा था–सबसे पहले मरना सीखो। जो स्वयं को मारेगा नहीं, वह साधु या भिक्षु नहीं बन पायेगा। बस यही बात मुख्य है क्योंकि जो शरीर का मरण है, वह तो द्रव्य मरण है लेकिन भीतर की चित्तवृत्तियों को यदि नहीं मारा, वे जिन रंगों से रंगी हैं, उन्हें नहीं हटाया तो भिक्षु भाव घटित नहीं होगा। रहीम जी ने कहा है –"आसा तृष्णा ना मरी, मरि–मरि गये सरीर।" अथवा मांगण वाला मर गया... हम मरे या नहीं ? बिना मांगे क्या मिलेगा ? कोई भी चीज हो– वस्त्र, पात्र, औषध, भेषज 'सव्वं से जाइयं होई' सब कुछ मांगने से मिलेगा। मकान में ठहरना है, पुस्तक पढ़नी है तो याचना करनी होगी। पर रहीम ने कहा– मांगने वाला मर गया। कैसे मर गया ? मरण हुआ उसके अहं का। इसे एक सच्ची घटना से समझें।

शांत क्रांति के अग्रदूत स्व. गुरुदेव गणेशाचार्य भिक्षार्थ एक घर में प्रविष्ठ हुए। घर मालिक को गुस्सा आ गया। इतना गुस्सा आया कि कहने लगा– निकल यहाँ से, इतना हट्टा–कट्टा मांगने निकला है ? कमाकर खा नहीं सकते, आ गये मांगने ? उनके मन में विचार– आया अरे भाई ! तेरी भावना नहीं है तो कोई बात नहीं, लेकिन अपने जीवन को क्यों मलीन करता है ? मैं तो यह चला, वे समभाव से निकलने लगे। एक पैर दहलीज के बाहर रखा होगा, एक भीतर ही था कि इतने में गृहस्वामी कहने लगा– अरे सुण–सुण, ले जा, आयो है तो ले जा।" वे कह सकते थे– कांई करणो ? रहने दे।

दूसरा घर नहीं है क्या ? टुकडों के लिए साधु नहीं बने हैं। लेकिन ऐसी बात उन्होंने नहीं कही। मुड़ गये– "भावना बन गई तो बहरा दे।" यह होता है, पूर्व संयोगों का त्याग। किसी अन्य से यदि कोई ऐसा बोल देता तो जब–तक चार–पाँच बार मनुहार नहीं करवाले, माफी नहीं मँगवाले, तब तक नहीं जाता। ताकि मालूम पड़ता ठमके से आये थे, ऐसे ही नहीं। लेकिन गुरुदेव गणेशाचार्य के इस उदाहरण से समझ लें कि जब साधु बनें तो पूर्व संयोगों का त्याग करें। क्योंकि यदि वे संयोग जीवित रहे तो पुनः पछाड़ेंगे, तब ऐसे चित्त होकर गिरोगे कि उठना भी कठिन होगा। हम प्रभु के सिद्धान्तों का यदि दोहन करें तो मालूम होगा कि प्रभु ने जीवन जीने का स्वरूप बताया है, उस शैली से यदि नहीं जीयेंगे तो साधना तो हो सकती है पर आराधना नहीं। जिन अनेक साधकों ने साधना भी की, पर लगे दोषों की आलोचना नहीं की, प्रायश्चित नहीं किया, पूर्व संयोगों को नहीं छोड़ा, उन्हें उर्वर बनाये रखा, उनका सिंचन किया तो आराधना तो नहीं ही होगी, उनका संयमी जीवन भी धूमिल हो जायेगा। आप जानते हैं कि चंडकौशिक सर्प, पहले कौन था ? साधु था। सर्प कैसे बना ? पूर्व संयोगों को छोड़ा नहीं, उन्हें चित्तवृत्ति में अवेरकर रख लिया, तो वे आत्मा को भटकाने वाले बनें। बारूद का ढेर कोई अपने घर में चाहे छिपा कर रखे, पर तभी तक वह सुरक्षित छिपा पड़ा रहेगा, जब तक उस पर चिनगारी न पड़े। ढेर मकान में छिपा रखा है, पर घर में छोटे–बड़े सभी तरह के सदस्य होते हैं। सहसा खेल–खेल में किसी ने चिनगारी उछाल दी, और वह उस ढ़ेर पर चली गई तो चाहे पाँच या सात मंजिली इमारत ही क्यों न हो, ढह जायेगी। इसी प्रकार यदि बारूद रूपी पूर्व संयोगों को चित्तवृत्ति में संयोजित कर लिया, उनका निष्कासन नहीं किया, शुद्धि–सफाई नहीं की तो वे हमारे जीवन को समाप्त करने वाले ही होंगे। हमारे भीतर छिपी संयोगों की यह चिनगारी न जाने कब उछल कर गिरे और जीवन को भस्म कर दे, अतः सावधान रहना आवश्यक है।

इतिहास में उल्लेख है कि पहले के श्रावक राजा के अंतःपुर में भी प्रविष्ट हो सकते थे। उन पर अविश्वास नहीं किया जाता था। उनके जीवन में प्रामाणिकता होती थी। भले ही मंत्री पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति अंतःपुर में न जा सकता हो पर श्रावकों का प्रवेश खुला था। क्योकि उनके संबंध में विश्वास होता था कि उन्होंने अंशतः संयम स्वीकार किया है। यह संयम जीवन की साख होती है। कभी–कभी लोग सोचते हैं कि संयम लेने के बाद निष्कर्मण्यता आ जाती है, जड़ता आ जाती है, नहीं। संयम जड़ता नहीं है, वह तो अद्‌भुत कर्मण्यता है। जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है, वैसे ही संयम आत्म–गगन में विहरण की पांख है, जहां रोक–टोक नहीं, रुकावट नहीं। संयम सुपारी नहीं है। यह तो दाख है। सुपारी भीतर–बाहर से कठोर होती है लेकिन दाख को कहीं से भी स्पर्श करिये, कोमलता ही मिलेगी। हम संयमी जीवन का स्वरूप जानें। महासती गुलाबकंवरजी म.सा. ने ऐसे ही संयमी जीवन को विकसित किया था। ऐसी संयम–साधना के बारे में कहा जाता हैं– संयम साधना की शक्ति है, संयम परमात्मा की भक्ति है। संयम आत्मा की अनुरक्ति है। संयम जीवटता की अभिव्यक्ति है। महाव्रत अपना लिये पर शक्ति नहीं तो उन्हें निभा नहीं पायेंगे। साधना है तो ही संयमी जीवन सधेगा। शक्ति आयेगी साधना से। परमात्मा की भक्ति में ही संयमी जीवन की आराधना भी होगी। संयम नहीं तो भक्ति नहीं बन पायेगी। संयम आत्मा की अनुरक्ति है। आत्मा का खटका नहीं तो संयम सध नहीं पायेगा। संयम वास्तव में जीवटता की ही अभिव्यक्ति है।

महासती जी के जीवन में जीवटता थी। जहाँ स्वावलंबन, पुरुषार्थशीलता तथा श्रमशीलता पनपती है, वहीं संयम का रूप निखरता है। भक्ति, शक्ति, अनुरक्ति के दर्शन बाहर नहीं हो सकते। संयम की अभिव्यक्ति तो जीवन की जीवटता में ही होती है। जीवटता अर्थात् जिन्दादिली और उसी में साधना की भी अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति को सतीजी ने जीवन का पर्याय बना कर स्वयं को सुशोभित किया, इस प्रकार वे सतत रूप से संयमी जीवन की

आराधना करती रहीं। अब भौतिक दृष्टि से वे दृष्टिगत नहीं हैं। इस प्रकार एक संयमी पुष्प का जो अलगाव हुआ है, वियोग हुआ है, वह ऐसी अपूरणीय क्षति है, जिसकी निकट भविष्य में पूर्ति कठिन है।

काल को क्रूर कहा गया है। पर वैसे देखें तो काल क्रूर नहीं भी है पर हमारे साथ वैसा प्रसंग बनता है तो हम उसे क्रूर कह देते हैं। हम जानते हैं कि कभी वही काल खुशियाँ देने वाला भी बन जाता है। तब काल क्रूर कहाँ हुआ ? समय को भी काल कहा गया है और मृत्यु को भी। हम उसकी प्रणाली समझ नहीं पाते तो उसे क्रूर कह देते हैं। किन्तु आचारांग सूत्र में कहा है– आयावाई से कम्मावाई से....।

वस्तुतः जो आत्मवादी है, वह जानता है कि आत्मा का जन्म–मरण नहीं होता। वह शाश्वत भाव में विद्यमान रहती है। शरीर का ही मरण होता है। व्यवहार में शरीर का वियोग होने को मरण कहते हैं। निश्चित रूप से तो आत्मा का मरण होता ही नहीं है। महासती जी के संयमी जीवन की अभिव्यक्ति इसी रूप में हुई थी, इसीलिये उनकी साधना, आराधना बन सकी। उनके जीवन के आदर्श को यदि सही परिप्रेक्ष्य में समझें तो काल की कार्यप्रणाली तो समझ में आ ही सकती है। साधना के आराधना बनने का मार्ग भी दिख सकता है। उनके जीवन को यदि इसी दृष्टिकोण से देखेंगें और भावों का समुचित परिस्कार करेंगे तो निश्चित रूप से आत्म–साधना मे निखार ला पायेंगे।

दि. 6-12-96

२२. शुद्ध आलंबन की महिमा

शांति की आकांक्षा प्रत्येक प्राणी में होती है और अपनी क्षमता के अनुसार वह शांति प्राप्त करने का प्रयास भी करता है। परन्तु क्या उसे अपेक्षित शांति प्राप्त हो ही जाती है ? आखिर शांति प्राप्त करने के अपने प्रयासों में वह असफल क्यों रहता है ? ये कतिपय ऐसे प्रश्न हैं जिन पर गंभीर चिन्तन आवश्यक है। सर्व प्रथम यह सोचें कि शांति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

हम चाहते हैं, हमारी प्रशंसा हो। यदि भगवान् महावीर के द्वारा किसी की प्रशंसा हो जाय तो क्या वह इसे अपना सद्भाग्य नहीं मानेगा ? यदि गुरु प्रशंसा के दो शब्द किसी व्यक्ति के लिए कह दें तो वह सोचेगा कि मैं धन्य–धन्य हो गया। वहीं यदि प्रभु स्वयं प्रशंसा करने के लिए तत्पर हों तो किसकी चाह नहीं बनेगी ? पर भगवान् किसकी प्रशंसा करें ? उन्होंने कहा है– जे बद्धे पडिमोयए– जो बद्ध का प्रतिमोचक है उसकी प्रशंसा करते हैं। शांति को प्राप्त करना है तो बंधन का प्रतिमोचक बनना होगा। बंधन को काटना होगा। किन्तु काटना चाहें तब। यदि इसी में उलझते रहे तो शांति नहीं मिलेगी। मन शांत नहीं विक्षिप्त होगा।

चित्त वृत्तियों का जहां तक संबंध है, उनके अनेक भेद हैं, अनेक रूप हैं और अनेक स्थितियाँ हैं, जिनमें विक्षिप्तता और मूढ़ता भी सम्मिलित हैं। ये स्थितियां तब बनती हैं, जब व्यक्ति बन्धन में जकड़ता है अथवा किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। तब उसे मार्ग नहीं दिखता। यह अवस्था इसी युग की नहीं है, युगों–युगों से होती रही है। मनोवैज्ञानिकों के शोध के अनुसार मनुष्य में कुछ स्वाभाविक वषतियाँ होती हैं जो प्रत्येक में जीवित होती है। ये वृतियाँ पूर्व में रही

हैं, वर्तमान में भी है। व्यक्ति स्वयं के चिन्तन में कभी इतना उलझता है कि उसे कहीं मार्ग दिखाई नहीं देता। वह दिग्भ्रमित अवस्था में छट पटाहट महसूस करता है– यह करूँ, वह करूँ, क्या करूँ ? पर कुछ कर नहीं पाता। उस तिलमिलाहट, एवं बैचेनी में वह अशांत महसूस करता है। ऐसी अशांति में वह जीवन को कहीं गर्त में न डाल दे अतः उसे सचेत करते हुए प्रभु कहते हैं– 'बद्धे पडिमोयए' बंधन को काटो, मुक्त हो जाओ। पर काटें कैसे ? बंधन को काटना सहज नहीं है। कवि ने इस हेतु सरल सुगम उपाय बताया है– शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जंजाल रे।

बंधन से मुक्ति पाना है तो आवश्यक है, शुद्ध आलम्बन स्वीकार करें। व्यक्ति स्वयं में असहाय होता है, उसे सहारे की अपेक्षा होती है। वृद्ध को लकड़ी का सहारा मिले तो सोचता है कुछ ताकत आ गई, शक्ति मिल गई। यदि अपनी आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है तो 'जे बद्धे पडिमोयए'– इन शब्दों की व्याख्या भी समझें यदि एक गाय बंधी है और कोई उसके बन्धन को खोलदे तो क्या भगवान उसकी प्रशंसा करेंगे ? हम सोच लेते हैं कि हम दूसरे को बन्धन मुक्त करते हैं, पर यह मात्र दम्भ या पाखण्ड है। हममें इतनी ताकत है क्या ? कौन किसको मुक्त कर पाता है ? श्रेणिक ने विनय अनुनय की थी– एक बार वंदन से 6 नारकी के बंधन टूटे तो एक बार वन्दन और कर लूं। श्रेणिक ने कहा– मैं नरक में नहीं जाना चाहता। वह प्रभु का भक्त था, प्रार्थना की– कोई मंत्र दे दीजिए ताकि नरक टल जाय। पर वह टाल सका क्या ? तो क्या हम काट सकेगें ? भगवान् उसकी प्रशंसा करते हैं, जो बंधन से मुक्त करवाता है। 'प्रति' उपसर्ग का ये मतलब नहीं कि बन्धन यहाँ है और मुक्ति वहाँ है। जहाँ बन्धन है, उसी का प्रतिमोचन करना होता है।

तब सोचें मुक्ति कहाँ है ? कर्मों का क्षय कहाँ होता है ? जो बंधन किया, उसी का प्रतिमोचक करना होता है। जिन आत्म प्रदेशों पर बंध है, उन्हें खोलना होता है। पर यदि आत्मा बलवती नहीं है तो

उसे सम्बल या अवलम्बन चाहिए होता है। यह बात गहराई से समझने की है, क्यों कि कोई किसी अन्य को मुक्त नहीं कर सकता। इसलिये यदि आत्मा कमजोर हो तो अवलम्बन द्वारा कोई सम्बल प्राप्त करे। यदि सम्बल नहीं दिया जाता तो भगवान् कैसे कहते– "देवशर्मा को प्रतिबोध दो।" सम्बल कैसे देंगे ? एक व्यक्ति वृद्ध है, कमजोर है तो उसे ऐसी दवा या रसायन दिया जाता है, जिससे उसमें पौष्टिकता आती है।

तत्त्वार्थ सूत्र 1/3 में कहा गया है– 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' वहाँ पौष्टिकता में अवलम्बन है। निसर्ग अर्थात् स्वाभाविक रूप से और अधिगम अर्थात् दूसरे के उपदेश से बल प्रकट होता है। कभी सोच लें, निसर्ग से ही बल प्राप्त कर लूंगा तो स्वोपज्ञटीका में आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट किया है कि यह संभव नहीं है। जीव जब तक देशना लब्धि तक न पहुँचे, इस भव में गुरु की अपेक्षा न रही हो, पर पूर्व भवों में वह उपदेश समाविष्ट हुआ है, वही उपदेश कारगर बना है। वह परोक्ष उपदेश से संयुक्त है तभी जा कर उसे वह सम्बल प्राप्त हुआ है। भीतर की शक्ति का जागरण न हो, तब तक बंधन काटने की क्षमता पैदा नहीं होगी। भाव शत्रु को भाव शस्त्र से ही जीतना होगा। हाथ में हथकड़ी, पैर में बेड़ी है, उसे ऊपर से काटा जाता है। पर भाव बन्धन कैंची चाकू से नहीं कटते। उनके लिए भीतर ही शस्त्र पैदा करने पड़ेंगे। शस्त्र को पैदा करना ही शस्त्र है। शस्त्र का अर्थ है– जो भाव–बंध हैं, उन्हें भीतर की शक्ति का संचार कर काटो। कविता में कहा जाता है– "शस्त्र अचूक क्षमा का लेंगे।" क्रोध आ गया तो क्षमा के शस्त्र को स्वीकार करो। क्षमा शस्त्र है क्या ? किसी अपेक्षा से है। हम एकान्त पक्ष न लें। क्षमा शस्त्र नहीं वल्कि निःशस्त्रीकरण के भावों को पुष्ट करने वाला है। दूसरे शब्दों में क्षमा में ऐसी शक्ति है कि क्रोध शांत हो जाय। शस्त्र का प्रयोग व्यवहार में हराने के लिए किया जाता है। जहाँ 'वन्धन है, 'प्रति' उपसर्ग से स्पष्ट है कि वहीं मुक्ति है। वहीं मुक्त करना है।

हमारी आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं। लोक 14 राजू प्रमाण है। उसमें प्रदेश कितने होंगे ? आकाश में सूर्य किरण में हमें जो बारीक तन्तु दिखते हैं, वे अनंतानंत प्रदेशों वाले हैं। ऐसा एक तंतु असंख्यात प्रदेशों पर रुका हुआ है। ऐसे 14 राजू लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने आत्मा के प्रदेश हैं। उन सारे प्रदेशों के प्रत्येक प्रदेश पर कार्मण वर्गणा के अनंतानंत परमाणु हैं। विचार कीजिये, आत्मा कितना भारी है। अनंतानंत पुद्‌गलों का वजन अथवा लेप उस पर है। हम उसे देख नहीं पाते हैं। उसकी खोज के लिए कवि कह रहे हैं कि शुद्ध आलम्बन लें। शुद्ध आलम्बन क्या है, इसे समझने के लिये एक दृष्टांत लें।

एक नरेश बड़ा अभिमानी, अहं में मस्त, जिद्दी था। एक दुर्गुण होता है तो इर्द–गिर्द के साथी भी आ जाते हैं तथा जैसी वृत्ति होती है, वैसा ही सहकार और परिसर मिल जाता है। हम जानते हैं कि अहं अकेला नहीं रहता। आचारांग सूत्र में बतलाया गया है– जहाँ अहं है, वहाँ भय की नियमा है। अहंवादी को भय रहता है कि कोई उसकी प्रतिष्ठा छीन न ले। अहं नही तो भय तिरोहित हो जाता है। राजा तो अहंकारी होने के साथ जिद्दी भी था। एक बार एक ज्योतिषी पहुँचा। उसने सोचा, अपने ज्ञान का उपयोग करना चाहिए। नागरिकों को बात मालूम पड़ी तो उन्होंने उसे बताया कि यहाँ का राजा उद्दंड़ी एवं अहंकारी है। वह एक छदाम भी नहीं देगा। वह तर्कों का ऐसा जाल बिछायेगा कि उसकी षडयंत्रकारी योजना से निकलना कठिन होगा। उन्होंने यह सलाह भी दी कि आप दूर से आये हो अतः वहां न जाकर किसी दूसरे देश के लिए प्रस्थान कर दो। ज्योतिषी गुरुगम ज्ञान से आत्मा को भावित करने वाला था। उसने विचार किया– मैं शुद्ध अवलम्बन ग्रहण कर के आया हूँ। नहीं गया तो मेरी कमजोरी प्रकट होगी। अतः जो प्रसंग बनेगा देखा जायेगा, पर राजा के पास पहुँचना चाहिए। वह दरबार में पहुँचा। राजा ने उसे सम्मान पूर्वक बिठाया। ज्योतिषी ने सोचा लोग कह रहे थे कि राजा अहंकारी है पर यह तो विनम्र है। पर व्यक्ति के कई रूप भी तो होते हैं। अभी

तो ठीक है। ज्योतिषी ने आशीर्वचन कहे। राजा ने पूछा– क्या भूत–भविष्य की बातें भी जानते हो। उसने उत्तर दिया– कुछ प्रयत्न किया है, गुरु कृपा से कुछ फलित जानता हूँ। भूत भविष्य का भी कुछ कथन कर सकता हूँ। राजा ने कहा– देखें, आपकी भविष्यवाणी कितनी सत्य होती है, परीक्षा करलें। उत्तीर्ण हुए तो मुँह मांगा ईनाम दूंगा, असफल हुए तो आजीवन कारावास मिलेगा। ज्योतिषी ने जो देखा वह बात कह दी घबराया नहीं, क्योंकि जहाँ शुद्ध अवलंबन है वहाँ भय नहीं रहता। यदि अवलम्बन को हटादें तो प्राप्त शक्ति तिरोहित हो जाती है फिर भीतर शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता, वह क्षीण हो जाती है, विकसित नहीं होती। उसने कहा– हुजूर फरमाइये मैं प्रयत्न करूँगा। राजा ने कहा– मैं जिस महल में हूँ, इसके सात दरवाजे हैं। बताइये मैं यहाँ से उठ कर किस दरवाजे से जाऊँगा। ज्योतिषी ने तत्काल एक कागज पर कुछ लिखकर उसे जमीन पर रखकर दबा दिया। राजा ने दीवान को आदेश देकर बुलाया और कहा कि इस महल की छत उड़ा दी जाय। वही किया गया। राजा ऊपर से निकला और पुनः द्वार से प्रवेश कर के अन्दर बैठ गया। बोला– बताओ, तुमने किस द्वार का लिखा है ? ज्योतिषी ने कहा– राजन् ! कागज उठाकर देख लीजिए। कागज उठाया और खोला गया। उसमें लिखा था– आप दरवाजे से नहीं किन्तु छत तोड़कर निकलेंगे। राजा को आश्चर्य हुआ कि ये कैसे जान गया ? राजा तो नहीं जानता था, पर हम जानते हैं कि उसने शुद्ध अवलम्बन लिया था। तो उससे उसकी प्रज्ञा निर्मल हो गई थी, वहां जंजाल पैदा नहीं हुए। जहाँ शुद्ध अवलम्बन नहीं, वहीं जंजाल पनपते हैं। बुद्धि में जंजाल आ गये तो फिर क्षमता नहीं रहेगी। इसलिये यदि व्यक्ति में क्षमता है तो क्षमता से विचार करें, नहीं तो आप्त पुरुष के वचनों पर विश्वास कर चले। अन्यथा और अधिक जंजाल पैदा होंगे, बंधन से मुक्ति नहीं होगी। 'एस वीरे पसंसिए'– जो बन्धन से मुक्त करता है, प्रभु भी उसकी प्रशंसा करते हैं। राजा ने ज्योतिषी के कागज को देखा, उसे उसमें वही संकेत मिले।

हमारा मन जब अहं आदि वृतियों से घिर जाता है, तब वह अत्याचारी बन जाता है। तब आत्मा सीधा कोई कार्य नहीं करता, कर्म और मन, वचन, काया के माध्यम से करता है। यदि मन–वचन–काया रूप योग नहीं तो आत्मा कोई क्रिया नहीं करेगा। 14 वें गुणस्थान में कुछ क्रिया नहीं होती। योग होते हैं, तब प्रवृति होती है। मन को जब तक शुद्ध अवलंबन न मिले तब तक वह जिद्दी एवं अहंकारी बना रहता है।

ज्योतिषी रूप शुद्ध अवलंबन के माध्यम से राजा की वृत्ति में परिमार्जन हुआ। राजा के मन में चिन्तन उत्पन्न हुआ– मैंने सोचा था कि ज्योतिषी ने किसी न किसी दरवाजे के बारे में लिखा होगा। अतः मैं छत तुड़वा कर छत के मार्ग से बाहर निकला। मुझे क्या पता था कि ज्योतिषी ने ऐसा ही लिखा है। राजा को उसके ज्ञान पर विश्वास हुआ, वस्तुतः मैं जितनी सोचता हूँ, उतनी ही दुनियाँ नहीं है, ज्योतिषी यथार्थ में जीने वाला है। राजा को बोध मिला। भीतर की ग्रंथि का विमोचन हो गया। शुद्ध अवलंबन से उसके विचार परिपुष्ट हो गए।

अतः यह ध्यान में रखने की बात है कि अवलंबन आवश्यक है पर आज स्थिति भिन्न है। तब समझें कि यदि आलम्बन लिया है तो बहुत अच्छी बात है। नहीं तो अवलम्बन अवश्य लें। इस स्थिति को शरीर के रूपक से समझें। शरीर के लिए भोजन आवश्यक है। इस प्रकार भोजन भी अवलम्बन है। पर वह कैसा हो, यह जानना भी आवश्यक है। वह भी शुद्ध हो, अशुद्ध का परिहार करें तो सही दिशा में गति होगी। सहारा शुद्ध नहीं होगा तो दिशा शुद्ध नहीं रहेगी। देव, गुरु, धर्म ये अवलंबन है। यदि कुगुरु की संगत की तो वह संगत बंधन की दिशा में गति करवायेगी। बंधन का मोचक बनने के लिए सम्यक् प्रकार से सुदेव, सुगुरु, सुधर्म का अवलम्बन लें, उससे आत्मिक जागरण होगा। वह जागरण एक–एक आत्म प्रदेश पर रहे हुए कार्मण वर्गणा को समाप्त करने में सक्षम होगा। भगवान् महावीर की सेवा में गौतम स्वामी तत्पर रहते थे। बंधन से मुक्ति का प्रसंग

आया तो प्रतिबोध देने भेजा। यदि स्वयं मुक्त करें तो भी वीर प्रशंसा करते हैं। यदि गौतम के निमित्त से मुक्त होगा तो भी प्रशंसा का पात्र है। कभी पूर्व भव का उपदेश कार्य करता है, कभी वर्तमान का। शुद्ध अवलंबन के बाद भी यदि जंजाल पकड़ कर रख लें, मन में झंझावात जोड़ लें तो वह बंधन में बंधता है। सम्यक्त्व के 5 दूषण जंजाल रूप हैं। यदि ये रहें, तो उद्धार नहीं होगा। शंका– संशय। कांक्षा– पर दर्शन की आकांक्षा। वहाँ यह बात तो है ही, पर एक दूसरी दृष्टि भी है। शंका के साथ कांक्षा का वृत्त है। एक शंका बनी फिर उस पुद्गलों या अन्य अवस्थाओं से या आकांक्षा से जोड़ा तो यह जंजाल है। यह जंजाल ही भंवर पैदा करता है। भंवर में फँसकर नाव डगमगाती है। इधर पलटें या उधर पलटें। यदि खिवैया सही है तो जंजाल को अलग कर सकता है।

यह भी समझ लेने की बात है कि पुरुषार्थ करना होगा। उसके लिए भी ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान जिस आलम्बन से, प्राप्त होगा, वह आलम्बन है, आगमधर गुरु समकिती जंजाल को छोड़ें। बीमारी दूर करनी है तो दवाई के साथ परहेज का भी ध्यान रखें। दूध के बर्तन में नीबू की एक बूंद भी रह गई तो दूध फट जायेगा। यही बात तामसी प्रवृत्ति के संबंध में भी सत्य है। तामसिक शक्ति सात्विक वृति का ह्रास करती है। क्रोध मात्र जीवन के सात्विक गुणों का ह्रास करता है। राजा ने जंजाल छोड़े तो दिशा–बोध मिला। आत्मा राजा है किन्तु जब ज्ञान रूप ज्योतिषी मिले और उसके साथ श्रद्धा का पुट जुड़े तो ही सकलता मिलती है। श्रद्धा में घुन लगेंगे तो जंजाल बनेंगे या ज्ञान में जग–बुझ जग–बुझ की स्थिति बनेगी। जग–बुझ की स्थिति रही तो भलीभाँति पढ़ा नहीं जा सकेगा। ज्ञान की शक्ति श्रद्धा के पुट के साथ प्रवाहित हो तो ही रुझान बनेगा। ज्योतिषी ज्ञान है, श्रद्धा के अवलंबन से सही दिशाबोध मिले तो राजा रूपी आत्मा तक पहुँच पायेंगे। अतः यह प्रयास होना चाहिये कि शुद्ध आलम्बन के माध्यम से जीवन को दिशाबोध मिले जिससे आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो। दि. 7-12-96

२३.कर्म सिद्धान्त और विज्ञान

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर का दिव्य शासन जयवंत है तथा उनकी दिव्य देशना प्रत्येक भव्यात्मा के आत्म–उत्थान हेतु पथ–प्रदर्शक के रूप में उपलब्ध है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि पथ–प्रदर्शक उपस्थित भी रहे पर हमारी दृष्टि उस दिशा में न पहुँचे तो हम अपेक्षित लाभ नहीं उठा पायेंगे। इस संदर्भ में 'धुणे कम्म सरीग्ग' सूत्र पर विचार करना उपयुक्त होगा। कर्म–शरीर तक हमारी पहुँच है या नहीं, यह देखना भी आवश्यक है। क्योंकि हमारी दृष्टि अधिकांशतया स्थूल पर रुक जाती है। सूक्ष्म जगत् में क्या हो रहा है, क्या रचना है, यह हम जान नहीं पाते। व्यक्ति जब दुःखी होता है और पुरुषार्थ करने के बावजूद उसे शांति प्राप्त नहीं होती, तब वह विचार करता है–'कर्मों का ऐसा ही योग है, जब तक कर्म है, तब तक दुःख भोगना पड़ेगा। यह एकांगी चिन्तन है। यह कर्मों का योग कैसे है। हम नहीं जानते। न हम सत्य से परिचित हैं, न ही हमारी कर्म सिद्धान्त में पैठ है। मोटे रूप में हम ऐसा विचार कर लेते है। विचारणीय यह है यदि कर्मों का ऐसा ही योग है तो पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता ? पुरुषार्थ कर के क्या पाएंगे ? यदि इस रूप में बंध है तो फिर 'अप्पा कत्ता विकत्ता य' अर्थात् आत्मा ही कर्ता है, भोक्ता है। ये भी कहा गया है 'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि', कर्मों का भुगतान किये बिना मुक्ति नहीं होगी। इस धरातल पर मानें कि कर्म उदय में आयेंगे ही। मेरे करने से कुछ नहीं होगा, तो व्यक्ति निराश हो जायेगा। उसकी पुरुषार्थ क्षमता मंद हो जायेगी क्योंकि पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही उसे महसूस नहीं होगी। अधिकांशतः ऐसा ही होता है। लोग जब कुछ कर नहीं पाते तो कह देते हैं– कर्मों का उदय है, कर्म ऐसे ही हैं, ऐसी स्थिति में क्या हो सकता है ?

कर्म शरीर क्या है ? हालांकि मनोविज्ञान काफी गहराई से इस पर विचार कर रहा है। परन्तु उसके सिद्धान्तों में या उसकी कार्य प्रणाली में कुछ भिन्नता हो सकती है। यद्यपि वह भी मन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करता है। आत्मा तक वह नहीं पहुँचा है, किन्तु उसके उपपात में खड़ा है। जब तक मानस तंत्र सही नहीं हो तब–तक आत्म विज्ञान होना भी कठिन है। मनोविज्ञान बताता है कि मानस तंत्र की रचना कैसी है और मूल आवेग कैसे हैं और किस आवेग से कौन से भाव निर्मित होते हैं। मैक्डूगल ने, जो एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक हैं, प्राणियों की मूल 14 प्रवृतियों का उल्लेख किया है। वे किस कारण निर्मित होती हैं, यह भी उन्होंने बताया है तथा उनके साथ भावों एवं आवेगों का भी सामंजस्य किया है। कर्म शरीर के आवेगों की बात है तो पहले कर्म शरीर को जानना होगा। प्राणी जगत् में पहुँचे तो प्राणी जगत् की विवक्षा/समीक्षा करना कठिन है क्योंकि सूक्ष्म व स्थावर प्राणियों का समूह अत्यंत विशाल है। उनमें भी बहुतों को हम देख भी नहीं पाते हैं। मनुष्य प्राणी को ही लें और मनुष्य जाति की विवक्षा की ही गणना करें तो वहाँ भी गहराई से सोचना होगा। आज मानव समाज बहुत विशाल हो गया है। अकेले भारत में ही लगभग 100 करोड़ से भी अधिक लोग रहते हैं। विश्व की आबादी तो 5 अरब सुनी गई है। यह तो जो विश्व है उसकी बात है। पर विश्व के जो सैद्धान्तिक दृष्टि से क्षेत्र हैं, जैसे युगलिक क्षेत्र, महाविदेह क्षेत्र, भरत, एरवत् आदि उन्हें हम देख भी नहीं पाते हैं। जितना देख रहे हैं, उतने भारत में ही 100 करोड़ लोग हैं तो क्या ये सारे के सारे मनुष्य एक समान हैं ? कोई लम्बा है, कोई गोरा है, कोई बौना है कोई सुडौल है। पर ये तो ऊपर की आकृति के आधार पर भेद हैं। यदि गहराई से विचार करें तो उनका जो विज्ञान है, उनमें जो संवेदना है, बुद्धि है, उसका माप भी एक समान नहीं है। कोई मंद मति है, तो कोई तीव्र बुद्धि है। यह अंतर कहाँ से आया ? हम सीधा सा उत्तर दे देंगे– कर्मों के संबंध के अनुरूप ही प्रवृत्तियाँ बनती हैं एवं गुण प्राप्त होते हैं। परन्तु मनोविज्ञान और ही

दृष्टि से विचार करता है। उसका मानना है कि यह अंतर देखना है और मनुष्य की शोध करनी है तो केवल आकृति या ऊपरी लिवास को आधार बना कर यह खोज नहीं हो सकती। उसके लिए तीन बातों का चिन्तन आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी के निर्माण में इन तीनों का योग होता हैं। ये तीन बातें हैं–

1. आनुवांशिक संस्कार 2. पर्यावरण 3. व्यक्तिगत संस्कार

ये बातें सिद्ध भी हैं। किसी को टी. बी. का रोग हुआ तो डॉक्टर पूछता है कि परिवार में माता–पिता, भाई, किसी को यह बीमारी थी क्या ? क्योंकि कई बीमारियां आनुवांशिक होती हैं। जरूरी नहीं, सभी को हो, पर कुछ को हो सकती है। किसी के व्यक्तित्व के उभार–निखार में पर्यावरण की भी भूमिका होती है। हम श्रद्धा से मानते आये हैं कि तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय कुल में होता है, भिक्षुक कुल में नहीं हो सकता। क्या कर्म सिद्धान्त को यह चुनौती नहीं है, जो कहता है–

'अप्पा कत्ता विकत्ता य' – आत्मा जैसे कर्म करता है शुभ या अशुभ अध्यवसायों से और 'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि'। पर भिक्षुक कुल का निषेध क्यों किया ? यदि कई उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी के व्यतीत होने पर किसी तीर्थंकर की आत्मा का भिक्षुक कुल में अवतरण हो जाता है तो कहते है, उस योनि से निष्कासन नहीं होता। तब इन्द्र हरिणगमेषी देव के माध्यम से संहरण करवा देता है। इसे ही आज की भाषा में ट्रांसप्लान्ट करना कहते हैं। तब माना जाना चाहिये कि भगवान के जमाने में भी इस प्रकार का ऑपरेशन होता था। आज विद्वान भिन्न प्रकार की बात करते हैं– विज्ञान की बात नहीं तो विश्वास नहीं। इस प्रकार इसे दैविक शक्ति से जोड़ा जाता है। यथार्थ में यह हुआ है पर विद्वानों के विचारों के बारे में क्या कहें ? इस संबंध में चिन्तन आवश्यक है।

विज्ञान और मनोविज्ञान व्यक्तित्व निर्माण में तीन अवयव मानते हैं। परन्तु यदि आनुवांशिक संस्कार ठीक नहीं तो सहसा

सुधार नहीं होगा। परिवर्तन में पर्यावरण का भी योगदान रहता है। पर्यावरण अर्थात् जिस स्वभाव में, परिवार में रह रहे हैं, यदि वह स्वस्थ नहीं तो स्थिति स्पष्ट नहीं रहेगी। जो स्वरूप ध्यान में लेना है, ले नहीं पायेंगे। तीसरा अवयव जो व्यक्तिगत संस्कार के रूप में है उसे कर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, पर किया जा सकता है। वे दो रूप में बनते हैं। पहला तो जो पूर्व के उपार्जित कर्म से होते हैं और हमारे कार्मण शरीर में व्यवस्थित होते हैं। दूसरे अनुभूतियों में होते हैं। इन सारे अवयवों का जोड़ बनाएंगे तब मानव के व्यक्तित्व की विवक्षा होगी। कर्म सिद्धान्त और मनोविज्ञान दोनों की अलग–अलग विवक्षा की जा सकती है। शब्दों की दृष्टि से इनमें भिन्नता है पर दूसरी दृष्टि से विचार करें तो मनोविज्ञान कर्म सिद्धान्त का पूरक है। मनोविज्ञान के धरातल से कर्म सिद्धान्त को समझने में सुविधा रहेगी। वहाँ ऐसी परिभाषा नहीं है पर कहा गया है कि कर्म भोग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव का योग नहीं तो उदय भाव नहीं बनेगा। उदाहरण के लिए तीर्थंकर नामकर्म जो निश्चित रूप से मनुष्य गति में ही उदय में आता है। मनुष्य भव नहीं तो उदय भाव नहीं बनेगा। ऐसा ही अन्य कर्मों के विषय में भी है।

उक्त विषय को मनोविज्ञान की दृष्टि से तुलना करके देखेंगे तो हम सत्य के नजदीक पहुँचेंगे। तीन अवयवों में वह पर्यावरण भी है जो उस समाज का होता है, जिस समाज में हम रहते हैं। उसके संस्कार भी असर डालते हैं। यह बात विज्ञान सम्मत भी है। प्रभु महावीर ने लोक में चार उत्तम पुरुषों की बात कही है 'चत्तारि लोगुत्तमा'। इनकी आवश्यकता क्यों है, इनकी बातें क्यों हैं इस पर हम चिन्तन नहीं करते। हम 'शरणं पवज्जामि' की बात करते हैं पर मंगल और लोकोत्तम पर हमारी दृष्टि कम जाती है। 'लोगुत्तमा' का मंगल व शरण के साथ में संबंध है। अब तक श्रद्धा से मानते आये हैं तो हमने श्रद्धा करली। पर विज्ञान मानता है हम पर निकट का कितना प्रभाव पडता है। हम अनुभूति नहीं कर पाते पर नजदीक आने वाला अपना प्रभाव छोड जाता है। हम अभिभूत होते हैं। इसे यों

समझें–कोई व्यक्ति निरन्तर पागल खाने में बना रहे फिर भी स्वयं को स्वस्थ रख पाये, कठिन है। कुछ दिनों में उसकी हरकतें भी पागलों जैसी हो जाती हैं। लोगुत्तमा का सम्बन्ध पर्यावरण के साथ है।वह उत्तमता हमारे भीतर प्रविष्ट हो, भावनाओं का निरन्तर सम्प्रेषण होता रहे तो वह उत्तमता हमारे भीतर भी आ जायेगी। इसलिए चार लोगुत्तमा की शरण में जाने से पुरुष उत्तम बनता है। यह न सोचें कि जो कायर है वह शरण में जाता है। क्योंकि शरण में जाना कायरता नहीं है। शरण वही लेगा जिसमें तेज, ओज है। कभी सोचते हैं लड़ नहीं पाया तो शरण में चला गया पर ऐसा नहीं है। शरण है पर वह है आत्मा में अरिहंत की शरण। उसे कैसे प्राप्त करें ? जब तक समर्पणा पूर्ण नहीं होगी, शरण में पहुँच नहीं पायेंगे। कबीरदासजी ने कहा है– 'सीस दिये बिन भक्ति नाहीं।' ऊपर के नाच–गान डाण्डिया खेल हैं। नृत्य तो बहुरूपिया, भाण्ड भी करते हैं पर उससे परमात्मा की भक्ति नहीं बन जाती। कवि आनन्दघन जी कह रहे हैं– शांति के स्रोत के लिए वैसा ही अवलम्बन ग्रहण करें। शरण का आलम्बन लेना है तो पहले स्वयं को उत्तम बनाना होगा क्योंकि शुद्ध अवलम्बन लेकर ही 'धुणे कम्म शरीरगं' अर्थात् कर्म शरीर को धुन पाएंगे। नहीं तो, धुन नहीं पाएंगे। जहाँ व्यक्ति झूठे प्रदर्शन प्रतिष्ठा में पड़ जाता है, वहाँ कुरीतियाँ पनपती हैं।

इस संदर्भ में सोनाली का उदाहरण मार्गदर्शन कर सकता है। सोनाली नवविवाहिता थी, माता–पिता का घर छोड़ पतिगृह में पहुँची थी। उसके जीवन में आनुवांशिक, पर्यावरण एवं व्यक्तिगत तीनों संस्कार मौजूद थे। पतिगृह का पर्यावरण देखा तो चिन्ता में पड़ गई। पहले एक–दो दिन देखा, स्वयं को तोला कि यहाँ मैं व्यवस्थित कैसे हो सकती हूँ ? वहाँ की व्यवस्था देख उसके रोंगटे खड़े हो गए। वहाँ मानवीय व्यवहार का अभाव था। देखा, 91 वर्ष की दादी सास को घर के झूठे बर्तन साफ करने पड़ते थे। खाने में बचा–खुचा दे दिया जाता था। सोनाली ने कहा– आप उठिये, मैं स्वयं साफ कर लूंगी। दादी ने कहा– बेटी तू रहने दे। अपनी सासूजी का स्व...

तुम नहीं जानती हो, मुझे मेरा काम करने दो। पर वह नहीं मानी। सासूजी ने देखा, मेरी व्यवस्था में किसने हस्तक्षेप किया ? सोनाली ने पति से भी कहा तो पति ने कह दिया– चुप रहो। वह माता की बात सुन पीपल के पत्ते की तरह प्रकम्पित होने लगा। मैं कैसे सुधार करूं ? तब सोनाली ने सोचा मुझे ही कुछ करना होगा। मेरे जो संस्कार हैं, जो अदर्श हैं और जो भावनाएँ हैं, उनके अनुसार ही कार्य करूँ। परिवार का कुशल क्षेम भी उसकी चिन्ता थी। इसलिये उसने परिवार के टुकड़े करने का विचार नहीं किया। ऐसा करने से वह सुखी हो जाती पर परिवार के ढांचे का सुधार नहीं होता। उसने सोचा मुझे अपनी तरकीब से कार्य करना है। सोचने से उपाय सूझा। उसने निश्चय किया कि तामसिक वृत्ति का परिहार करना होगा, जिससे पर्यावरण में सुधार हो तथा सात्विक वृत्ति को प्रेरित करना होगा जो परिवर्तन में सहयोगी होगी। उपाय के अनुसार वह अपने कार्य में जुट पड़ी। हम जानते हैं कि रूपान्तरण होता है पर उसके लिये तौर–तरीका भी उपयुक्त होना चाहिए। उसने झूठे बर्तन कमरे में इकट्ठे किये। सासूजी ने पूछा– ये किसने किया। नौकरों को डाँटा, पर सोनाली ने बात स्पष्ट कर दी– ये मिट्टी के सकोरे मैंने इकट्ठे किये हैं। आज तो आप ढूंढ कर ले आती हैं पर आप बूढ़ी होंगी तब मुझे इनकी जरूरत पड़ेगी। कहाँ से लाऊंगी, घर की परम्परा का तो निर्वाह करना होगा। सासूजी की आँखे खुली। समझ गई। दादी–सासूजी का जीवन परिवर्तित हुआ। अब तो उन्हें गद्दों में बिठाया जाने लगा। गर्म–गर्म हलवे का भोजन मिलने लगा।

मैकडूगल कहता है– व्यक्ति में कई वृत्तियाँ पनपती हैं। पलायन वृत्ति भय के कारण बनती है। कौतूहल है तो जिज्ञासा वृत्ति पनपती है। यदि इस विषय पर कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें तो ये सब मोह कर्म के विकार हैं। हास्य का उदय है तो हँसी आयेगी। स्वामित्व भाव है तो लोभ का उदय, कामुकता में वेद का उदय, भय मोहनीय में भय का प्रसंग, क्रोध मोहनीय से क्रोध का उदय होगा। कर्म और शरीर का जो संबंध है उसे विज्ञान आज

जीन्स की वैज्ञानिक पद्धति के रूप में स्वीकार करता है। वह मानता है कि जीन्स में संस्कार अंकित होते हैं। यद्यपि विज्ञान भी कार्मण शरीर को पकड़ नहीं पाया है पर वह भी मानता हैं कि वहां भी संकेत होते हैं। व्यक्तिगत संस्कार के आधार पर व्यक्तित्व निखरता है। मनोविज्ञान जहां तक पहुँचा है, विज्ञान ने जो शोध की है, वह सब कर्म सिद्धान्त तक पहुँच रही हैं। यदि कर्म सिद्धान्त का इसके साथ योग कर लें तो शीघ्र आगे पहुँच सकते हैं। हम भारतवासी इस दृष्टि से लाभप्रद स्थिति में हैं क्यों कि हमें तो यह बपौती के रूप में मिला हैं, किन्तु हम इस का समुचित लाभ नहीं उठा पाये हैं। मोटे तोर पर हम कर्म का उदय मान लेते हैं। इसके साथ ही कर्म सिद्धान्त की बारीकी को भी समझें, कर्म शरीर को जानें, तभी उसके धुनने का उपक्रम बन पायेगा।

दि. 8-12-96

२४. कर्म बंध से मुक्ति का उपाय

सिद्ध परमात्मा की स्तुति भव्यत्व–भाव के साथ भव्यत्व के चरम विकास के आदर्श को सन्मुख रख कर ही की जाती है ताकि भव्यात्मा सिद्ध के स्वरूप एवं स्वभाव को प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील बने। यह आवश्यक भी है क्योंकि हम जैसा बनना चाहते हैं, वैसा आदर्श अपने सन्मुख रखने से साहस और सहारा दोनों मिल जाते हैं। हम जानते हैं कि जब लता को सहारा मिल जाता है, तब ही वह ऊपर उठ पाती है। अन्यथा जमीन पर ही पसरी रह जाती है। यदि यह भी सत्य है कि यह सहारा जितना मिलता है उतना ही विकास होता है। यदि लम्बे बांस का आधार मिलता है तो लता भी बांस भर ऊपर चढ़ जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति सहारा चाहता है। तत्त्वार्थ सूत्र (5/29) में भी कहा है– 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'। जीव सहयोगी बनता है। पर वह सहयोग कैसा हो, सहयोगी की ऊँचाई कैसी हो, यह भी समझने की बात है। साधना के क्षेत्र में सर्वोच्च अवस्था है– सिद्ध भगवान् की। सिद्धों का आदर्श स्वरूप सामने रख कर हम स्तुति में कहते हैं– 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' अर्थात् सूर्य से भी अधिक प्रकाशमय। ये लक्ष्य जीवन में गहरे उतर जाय, तब ही स्वयं की क्षमताओं का माप संभव होता है। हम स्तुति करते हैं किन्तु यदि वह हृदय को स्पर्श न करे, होठ और तालू तक ही रह जाय, भीतर गहरे तक नहीं उतारें तो उसका लाभ नहीं मिल सकता। जैसे विवाह शादी के प्रसंग में यदि कोई संपन्न व्यक्ति स्वर्ण–चांदी के थाल में भोजन परोसे तो उस थाल में भोजन कर लेने मात्र से वह चांदी का थाल आपका नहीं हो सकता। बैंक का कैशियर दिन भर नोट गिनता है पर यदि स्वयं उसकी जेब टटोलें तो हो सकता है वह खाली हो। स्तुति से यदि

अन्तर नहीं भीगा तो वह सही रूप में स्वयं के लिए कारगर नहीं होगी। मस्तिष्क चैतन्य केन्द्रों का अवस्थान है। उन चैतन्य केन्द्रों को जागृत कर दिया, किन्तु उसके साथ हृदय का ताल–मेल नहीं जुड़ा तो यह जागरण फलदायी नहीं होगा। इस जागरण का हृदय के साथ ताल–मैल बैठा पाना सरल भी नहीं है। क्योंकि हृदय बहुत गहरा है, गंभीर है। हृदय के बाहर संगीन पहरा है, मजबूत हड्डियों का पहरा है। सहसा उसके भीतर प्रविष्ट नहीं करवाया जा सकता। यदि उसमें प्रवेश कराना है तो माध्यम ढूंढना होगा। हम जानते हैं कि जब व्यक्ति को ग्लूकोज चढ़ाया जाता है तब अनेक बार व्यक्ति को बेहोश कर दिया जाता है। तब पहरेदार सो जाते हैं और ग्लूकोज भीतर पहुँच कर खून के कतरे–कतरे में मिल जाता है। यही आदर्श सिद्ध भगवान् का स्मरण करता है। आदर्श यदि कतरे–कतरे में रम जाय तो फिर कोई कारण नहीं कि जीवन में परिवर्तन न हो।

आज की स्थिति पर इस संदर्भ में विचार करें। आज धर्म साधना तो होती है पर जीवन का रूपान्तरण नहीं हो पाता। युवावर्ग भ्रमित हो रहा है। वह विचार करता है कि धर्म क्या है। क्या धर्म दोहरा जीवन जीना सिखाता है ? नहीं, यही भ्रमित होने की स्थिति है, क्योंकि धर्म हमें दोहरापन नहीं सिखाता। धर्म दोहरेपन की शिक्षा भी नहीं देता। वह तो जीवन के अणु–अणु में प्राण फूंकने वाला तत्त्व है। अतः धर्म जीवन में खून के रूप में रहे यह आवश्यक है। धर्म आत्मा का स्वभाव है। यदि आत्मा की परिणति स्वभाव के अनुरूप बन जाये तो हृदय से स्वतः ही सिद्ध भगवान् की स्तुति मुखरित होगी। धर्म जीवन में इस प्रकार एकमेक हो जाय कि हम कह पायें "तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ, ऐसा हो संधान।"

सबसे दुःखद स्थिति यह है कि आत्मा बहुत समय से कर्मों से आवृत्त है। परन्तु अपना अपराध स्वीकार नहीं करता। उल्के विपरीत दूसरों पर (कर्म पर) दोष डालता है। व्यक्ति ऽ. देखता, कर्मों पर दोषारोपण करता है। कर्म तो बेचारे निजी

वह कहता हैं– "मैं कर्मों के कारण ही संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ।" कर्म तो इस क्षेत्र में सदा से रहे हैं। यहीं तीर्थंकरों ने जन्म लिया, कैवल्य ज्योति प्राप्त की, फिर यहीं विचरण किया किन्तु उनके कर्म बंध नहीं हुआ। सिद्ध क्षेत्र में भी कार्मण वर्गणा रही हुई है पर वह सिद्धों के नजदीक भी नहीं जाती। जहाँ सिद्धों के आत्मप्रदेश हैं, वहाँ कार्मण वर्गणा भी ठसाठस भरी है पर वे फिर भी निर्लेप रहते हैं। आप कहेंगे– काजल की कोठरी में, काजल की लीक न लगे– यह असंभव है। परन्तु यह असंभव भी नहीं है। यदि हमारा संतुलन बराबर रहे तो दाग नहीं लगेगा। हम जानते हैं कि तलवारों की धारों पर नष्त्य करने वाले होते हैं, आग पर चलनेवाले भी होते हैं और रस्सी पर चल कर नदी पार कर जाने वाले नटं भी होते हैं। उनके कार्य भले ही कलाएँ हों परन्तु वे दीर्घ साधना और संतुलन प्राप्ति का ही परिणाम होते हैं। यों तो तीर्थंकर भगवान के भी ईर्यापथिक क्रिया से साता वेदनीय का बंध होता है, पहले समय में बंध, दूसरे समय में वेदन और तीसरे समय में वे क्षय हो जाते हैं। पर हम हैं कि कर्मों को दोष देते हैं यद्यपि वे निर्जीव हैं। हमने ही उन्हें ग्रहण किया, हम ही उनके प्रति अनुरक्त हुए, तब ही वे हम में प्रविष्ट हुए, हम से जुड़े।

इस संदर्भ में रामायण के प्रसंग पर ध्यान दें। रावण जनक–नंदिनी सीता को उठाकर ले गया। उन्हें अशोक वाटिका में रखा। पर इतने सब के बाद भी वह सीता को विचलित नहीं कर पाया। रात्रि में उसे नींद नहीं आती। वह सीता का स्मरण करता, सीता के पास जाता। पर वह इन्द्रिय सुख की अनुभूति नहीं कर पाता। क्योंकि महासती सीता उस के प्रति अनुरक्त नहीं होती। रावण का यह प्रण कि जब तक कोई समर्पित न हो जाय तब तक वह मनमानी नहीं करेगा, उसे अनुशासित किये रहा। इस प्रकार सीता अनुरक्त नहीं हुई तो रावण भी पाप से बचा रहा। हम भी कर्मों के अनुरागी बनते हैं, कर्मों को आमंत्रित करते हैं और इस प्रकार स्वयं ही दुःख को आमन्त्रण देते हैं। जरा सोचें कि उन्हें बुलाता कौन है ? कर्म आयातित हैं। हमने ही इन्हें मांगा है। आप कहेंगे हमने कभी नहीं

जाना कि इन्हें हमने स्वयं ही बुलाया हो, पर ऐसा है। जो हमारी योग प्रवृति है, जो चिन्तन है वह खुले रूप में इनका आह्वान करता है। प्रश्न होगा कैसे ?

प्रभु महावीर ने कहा– अणेगचित्तो खलु अयं पुरिसे। यदि शांति चाहते हो तो मन की परीक्षा करो कि वह शांति चाहता है या नहीं ? मन की स्थिति क्या है ? इसे भी समझें। मन पौद्गलिक है, हम उस पर अंकन करते हैं। मन की परतों पर हम निरन्तर कुछ न कुछ लिखते रहते हैं। इतना लिखते हैं कि घिस–घिस कर कागज फट जाता है। लिखा, फिर रबर से मिटाया, फिर लिखा–फिर मिटाया। इस प्रकार लिखते–मिटाते लिखते–मिटाते वह जीर्ण अवस्था प्राप्त कर लेता है। मन की ऐसी जीर्ण अवस्था के साथ सद्‌गुणों का समन्वय नहीं हो सकता। "अट्टे लोए परिजुण्णे" निरन्तर आर्त्त से वह जीर्ण–शीर्ण हो जाता है। मन की बही में हम निरन्तर अंकन तो करते रहे हैं पर कभी खोलकर नहीं देखा कि खर्च कितना किया और कमाया कितना। व्यक्ति सद्‌गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कितना करता है, यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है। दूसरों पर दृष्टि रही तो खर्च–खाता बढ़ता रहेगा, भुगतान कौन करेगा ? अतः हम बैलेन्स बराबर रखें। कुम्हार गधे पर मिट्टी के घड़े लादता है। यदि एक ओर लाद दे और दूसरी ओर खाली रखे तो घड़े बाजार तक पहुँच नहीं पायेंगे। गधा लड़खड़ा कर गिर पड़ेगा। अतः वह दोनों ओर भार बराबर रखता है। यदि रेलगाड़ी पटरी पर चल रही है तो कोई खतरा नहीं, परन्तु यदि संतुलन बिगड़ा तो दुर्घटना होगी। पहले मस्तिष्क का सन्तुलन बिगड़ता है फिर बाहर का संतुलन बिगड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टि से कर्मों का आगमन तभी होता है जब हम अपना बैलेन्स बिगाड़ लेते हैं। इन्द्रियों के विषय अलग हैं पर जब हम उनका बैलेन्स बिगाड़ लेते हैं तथा विषयों के प्रति शुभाशुभ कल्पना करते हैं तब कर्मों का आगमन होता है। द्वार खुले कि कर्मों का प्रवेश हुआ। पहले कर्म निर्जीव थे पर आत्मा से मिलकर वे बलवान बन जाते हैं। यह उसी प्रकार की स्थिति होती है जैसी किसी

को किराये पर घर दे देने पर हो सकती है कि धीरे–धीरे वह ही मालिक बन जाय। इस प्रकार आत्मा कमजोर हो जाती है तथा उसमें कर्मों को खदेड़ने की जो क्षमता होती है, उसे भी वह भूल जाती है। उसी क्षमता को अर्जित करने हेतु सिद्धों का आदर्श हम अपने सम्मुख रखें। जब उनका तेज हमारे भीतर प्रविष्ट होगा, तब हम कर्मों को खदेड़ने में सक्षम बनेंगे। यदि हमें भीतरी शक्ति को जागृत करना है तो सिद्धों के, देव–गुरु–धर्म के आदर्श सामने रखें, शक्ति का प्रस्फुटन अवश्य होगा– 'स समियाए, पर वागरणेणं', स्वयं से भी, परोपदेश से भी। एक समय आयेगा, जब ज्ञानशक्ति की किरण हमारे भीतर प्रविष्ट होगी। जुगनू चमका तो आशा बंधी, पर देखना यह होगा कि उससे मति निर्मल बनी अथवा नहीं। सन्मति सम्बल देती है पर 'वागरणेणं' अर्थात् आप्त वाणी पर विश्वास होना चाहिये। मन में उस शक्ति का संचरण हुआ तो कर्म जल्दी निर्जरित होंगे।

बतलाया जाता है– आत्मा ग्रंथि देश तक पहुँच जाती है, तब बहुत से कर्म अलग हो जाते हैं। आगे कोई प्रयास करता है तो कर्म की स्थिति को अन्तः कोटाकोटि कर लेता है। यह है, शक्ति का जागरण। ऐसा हो जाने पर कर्मों को हटाने में देर नहीं लगेगी। अज्ञानी आत्मा जिन्हें अनेक भवों में भी नहीं कर पाता, उन्हें सम्यक दृष्टि एक श्वासोच्छवास में ही खपा देता है। उस शक्ति को जगाने के लिए ही स्तुति है। स्तुति की झंकार अणु–अणु से झंकृत हो तो शत्रु टिक नहीं पायेंगे। फिर ये वैकारिक भाव तत्काल निस्तेज होकर निकल जायेंगे। हमें जिनशासन मिला है। यदि यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर प्राप्त नहीं होगा। महावीर की देशना मिली है, ऐसी दुलर्भ निधि पाकर भी अपनी शक्ति को नहीं जगाया, आलस्य और प्रमाद में पडे रहे तो यह भव भी व्यर्थ चला जायेगा और हाथ मलते रह जायेंगे।

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को बुढापे और मृत्यु का भय रहता है, यदि सिद्धों का आश्रय ले लें तो बुढापा नहीं आयेगा। तीर्थंकर कभी वृद्ध नहीं होते, क्योंकि उनका बैलेन्स बराबर रहता है।

वे राग–द्वेष में लिप्त नहीं होते। जब मन राग–द्वेष से जर्जरित होता है, तब वह शरीर को भी जर्जरित कर देता है। तीर्थंकर इस अवस्था से ऊपर उठ चुके होते हैं। वे अजर अमर हैं। हम उनके आदर्श को सन्मुख रखें तो एक दिन उस अजर अमर शाश्वत स्वरूप को अपनी आत्मा में उजागर कर पाएंगे। अतः हमारा प्रयास उनके आदर्शों पर चलने का ही होना चाहिये।

दि. 19-12-96